लोकजीवन और साहित्य

लेखक—

डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
नवम्बर—१९५५
मूल्य ३॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

भूमिका

"लोक जीवन और साहित्य" मेरे कुछ नये पुराने लेखों का संग्रह है। इनमें कुछ लेख फिराक़ गोरखपुरी पर भी हैं। जिस समय वे लेख लिखे गये थे, उस समय अनेक मित्रों का विचार था, इनका उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। जब लेख छप गये तब उन्हीं ने कहा—हर कोई जानता है, फिराक़ बे सिर पैर की बातें लिखता है, उसका जवाब देने की क्या ज़रूरत थी! कुछ-कुछ इसी तरह वृन्दावनलाल जी वर्मा के बारे में अनेक मित्र कहते थे—पुराने ढंग के लेखक हैं, सामन्तों के गुन गाते हैं। जब लेख पढ़ा तो वही लोग कहने लगे—वर्मा जी बहुत अच्छा लिखते हैं, यह भी कोई साबित करने की बात है!

तात्पर्य यह कि हिन्दी की अनेक स्वीकृत मान्यताओं के पीछे एक संघर्ष है। मान्यतायें याद रहती हैं, संघर्ष हम भूल जाते हैं। उस संघर्ष से इन लेखों का भी कुछ सम्बन्ध है। इसीलिए वे पुस्तक रूप में आपके सामने हैं।

दीपावली सं० २०१२
गोकुलपुरा, आगरा।

—रामविलास शर्मा

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

लोकजीवन और साहित्य

सौन्दर्य की उपयोगिता

विधाता की विचित्र लीलाओं में इसे भी गिनना चाहिए कि साहित्य शास्त्री सौंदर्य की उपयोगिता से जितना ही इंकार करते हैं, वे उसका उतना ही उपयोग या उपभोग भी करते हैं।

रीतिकालीन साहित्य-शास्त्रियों ने रस को काव्य की आत्मा कहा और उसे आनदरूप बताया ; काव्य के आनन्द को उन्होंने शाश्वत आनन्द-रूप आत्मा से भी जोड़ दिया । लेकिन उनके आलम्बन और उद्दीपन, उनका नायिकामय संसार देखकर कहना पड़ेगा,—'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।'

सामन्ती वैभव के इन चितेरों के लिए सौंदर्य का मूर्त रूप था नारी। यह नारी न तो उन्हें मातृरूप में प्रिय थी, न भगिनी रूप में। पत्नीरूप में उन्हें प्रिय रही हो—इसका प्रमाण भी दरबारी साहित्य में नहीं मिलता। इस सौंदर्य-मूर्ति नारी का उपयोग था—न केवल कवियों के लिए, वरन् उनके अवकाश भोगी अन्नदाताओं के लिए भी।

जो मनुष्य अवकाश भोगी नहीं है, दूसरों की मेहनत पर नहीं जीता वरन् अपनी मेहनत पर खुद जीता और दूसरों को जिलाता है, उसके लिए सौंदर्य कर्ममय जीवन से बाहर नहीं होता। स्वस्थ मनुष्य भोजन से तृप्त होता है, लेकिन केवल स्वाद के लिए भोजन करना अस्वस्थ आदमी का काम है।

सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि हम जो काम करें, वह सुंदर हो और उससे हमें आनन्द मिले। लेकिन जब से आदम ने हव्वा की बात मानकर अल्ला मियाँ की आज्ञा का उल्लंघन किया, तब से मनुष्य को यह शाप मिला कि उसका कर्ममय जीवन दुख का जीवन हो।

दूसरे शब्दों में जब से व्यक्तिगत संपत्ति का जन्म हुआ, समाज में वर्ग बने, कुछ का कर्तव्य मेहनत करना हुआ और कुछ का कर्तव्य उनकी 'रक्षा' करना और उन्हें 'ज्ञान' देना हुआ, तब से सुन्दरता पर इजारा हो गया उनका जो केवल रक्षा करते थे, केवल ज्ञान देते थे, पेट भरने और तन ढकने के साधन पैदा करना जिनका काम न था। इसलिए जो लोग उपयोगी वस्तुएँ पैदा करते थे, उनका जीवन दुखमय हुआ; जो उपयोगी वस्तुओं के मालिक थे, उनका काम सुंदरता की उपासना करना हुआ। निष्क्रिय और अवकाश भोगी जीवों के सौंदर्य प्रेम को न्यायपूर्ण ठहराने के लिए ऐसा शास्त्र ही बन गया जो सौन्दर्य को उपयोगी वस्तुओं से अलग करके देखता था। सौदर्य की सत्ता वस्तुओं से हटाकर मनुष्य के मन या आत्मा में कर दी गई और वस्तुओं को उस शाश्वत सौन्दर्य का प्रतीक भर माना गया।

जैसे मनुष्यों से बाहर मनुष्यता की सत्ता नहीं है वैसे ही सुन्दर वस्तुओं (या सुंदर भावों, विचारों) से बाहर सौदर्न्य की सत्ता नहीं है। और तमाम सुन्दर वस्तुएँ, तमाम सुन्दर भाव-विचार मनुष्य के लिए हैं, उसकी सेवा करने के लिए, उसका हित साधने के लिए हैं। मनुष्य उन सुन्दर वस्तुओं, सुन्दर भावों, विचारों के लिए, उनकी सेवा करने के लिए नहीं है। साहित्य भी मनुष्य के लिए है, साहित्य का सौन्दर्य मनुष्य के उपयोग के लिए है, मनुष्य साहित्य के लिए नहीं है। लेकिन अवकाश-भोगी सज्जन तमाम जनता का अस्तित्व इसीलिए सार्थक समझते हैं कि वह उनके लिए उपयोग की वस्तुएं उत्पन्न करती है। इसे वे सनातन ईश्वर-कृत नियम मानते हैं। इसी नियम के अनुसार वह साहित्य को जनता के लिए नहीं मानते, वरन् जनता को साहित्य के लिए मानते हैं।

लेकिन सौन्दर्य है क्या? वह मनुष्य की भावना मात्र है या उसकी कोई वस्तुगत सत्ता है?

कुछ सुन्दर वस्तुओं की मिसालें लीजिए। ताजमहल, तारों-भरी रात, भादों की जमुना, अवध के बाग, तुलसीकृत रामायण, देश-प्रेम,

संसार में मानवमात्र का भाईचारा और शान्ति—ये सभी सुन्दर हैं। हो सकता है, कुछ लोगों को ताजमहल भयानक मालूम हो, तारों-भरी रात में भूत दिखाई दें, भादों की जमुना देखकर मन में आत्महत्या के भाव उठते हों, अवध के बागों में आग लगा देने का जी चाहे, तुलसी-कृत रामायण निहायत प्रतिक्रियावादी लगती हो, देश-प्रेम के नाम से चिढ़ हो और शाँति तथा भाई चारे की बातों में कम्युनिज्म की बारूद की गंध आती हो।

लेकिन ताजमहल अगर आपको भयावना लगता है तो क्यों? शायद इसलिए कि एक बादशाह ने आप जैसे मुफलिसों की मोहब्बत का मजाक उड़ाया है, या शायद संगमर्मर देखकर आपको किसी कोढ़ी की याद आती है, या शायद ताजमहल की मीनारें उसकी शोभा बिगाड़ती हैं, या उसकी नफासत ही आपको अस्वाभाविक लगती है। जो भी सबब हो, दोष या तो ताजमहल में होगा या आप में। जहाँ तक आपके मन में दोष या द्वेष होने का सवाल है, हम चार भले आदमियों से पुछवा देंगे कि ताजमहल को शाहजहाँ ने बनवाया अलबत्ता था, लेकिन उसे बनाया था कारीगरों ने। अगर कारीगरों से दुश्मनी न हो तो मोहब्बत का मजाक उड़ाये जाने की बात छोड़ दीजिए और संगमर्मर से कोढ़ी की याद आती होतो कुछ दिन के लिए अस्पताल में भर्ती हो जाइए। रही मीनारों और नफासत की बात, तो यह गुण या दोष ताजमहल ही में हो सकता है और उसका सम्बन्ध ताजमहल की वस्तुगत सत्ता से ही होगा।

तारों-भरी रात में भूत दिखाई देते हों, तो दो-एक आदमियों को साथ ले लीजिए या हनुमानचालीसा का पाठ कर लीजिए, भूत भाग जायँगे। भादों की जमुना में आत्महत्या करने की इच्छा हो तो मन के संस्कार बदलने के लिए अच्छा साहित्य पढ़ा कीजिए। अवध के बाग अच्छे न लगें तो थोड़ा व्यायाम कीजिए, खुली हवा में साँस लीजिए, जिससे सारा आनन्द सिनेमाघर में ही सीमित न हो जाय। तुलसीकृत रामायण प्रतिक्रियावादी लगे तो आइए, बहस कर लीजिए। और शांति तथा भाईचारे में बारूद की गंध आए तो इस परीक्षा कर लीजिए कि

युद्धों से कितना नुकसान हुआ है, आज कौन युद्ध की तैयारी कर रहा है, कौन शान्ति चाहता है।

आप यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकते कि हमारी तबियत, हमें नहीं अच्छा लगता। हम आपको व्यवहार की साखी देंगे, चार भले आदमियों से पूछेंगे कि उनका अनुभव क्या कहता है। सौंदर्य की कसौटी है, मनुष्य का व्यवहार। इस व्यवहार से आप बचकर नहीं निकल सकते। और सौन्दर्य की कसौटी व्यवहार है, इसीलिए वह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है, वरन् उसकी वस्तुगत सत्ता है।

व्यवहार की कसौटी पर हम किसी वस्तु के गुणों को परखते हैं। उसके गुणों को हम 'सुन्दर' शब्द द्वारा प्रकट करते हैं। लेकिन सभी वस्तुओं के गुण एक-से नहीं होते; इसलिए सौन्दर्य भी एक सा नहीं होता। कुछ वस्तुएँ सबसे अधिक इन्द्रियों को रुचती हैं, कुछ हृदय को, कुछ मस्तिष्क को। गुलाब के फूल में कोई विचार निहित नहीं है; हम उसे देखकर चाहे जो सोचें। उसका वस्तुगत सौन्दर्य इंद्रियबोध तक सीमित है। ललित कलाओं में इन्द्रियबोध, भावना (इमोशन) और विचार—इन तीनों की एकता दिखाई देती है। स्थापत्य, शिल्प और चित्रकला में इंद्रियबोध की प्रधानता रहती है, संगीत में भावना की और साहित्य में विचारों की। लेकिन इन्द्रियबोध, भावना और विचार की एकता सभी में मौजूद है।

दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखा। वह उसे सुन्दर लगी। शकुन्तला के साथ बड़ा अन्याय होगा, अगर हम कहें कि सौन्दर्य शकुन्तला में न था, वरन् दुष्यन्त में था। और यह आपके प्रति अन्याय होगा, यदि कोई कहे कि आप दुष्यन्त की जगह होते तो उसे असुन्दर कहते या काठ के कुन्दे और शकुन्तला को समदृष्टि से देखते।

फय्याजखाँ की जैजैवंती सुनकर (या सहगल का 'तड़पत बीते दिन-रैन' सुनकर) यह कहना कहाँ तक न्यायपूर्ण होगा कि सौन्दर्य उनके गाने में नहीं है, वरन आपके कानों में है? यह सही है कि सभी को संगीत के सौन्दर्य का पता नहीं लगता; भैंस के सामने बीन बजाने की कहावत

बहुतों पर चरितार्थ हो सकती है। लेकिन इससे साबित यह होता है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध भी विकासमान है, वह सदा एक-सा नहीं रहा, न एक-सा रहेगा। मनुष्य का संगीत प्रेम उसके पिछले तमाम विकास का परिणाम है। लेकिन श्रोता के अविकसित इंद्रियबोध से, उसके अज्ञान से, यह साबित नहीं होता है कि संगीत में वह गुण नहीं है जिसे हम सुन्दर कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु से रामकथा सुनी, तब अचेत रहने के कारण वह उनकी समझ में कम आई। लेकिन गुरु ने उसे बार-बार सुनाया। उनकी चेतना विकसित हुई और रामकथा के गुणों का उन्हें पता लगा। लेकिन रामकथा में मनुष्य के लिए जो ज्ञान था, या चरित्र-चित्रण और कथा की बनावट थी, वह उसमें तुलसी के अचेत रहने पर भी थी और सचेत रहने पर भी रही। रामकथा के गुण तुलसी की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर न थे; वे रामकथा के वस्तुगत गुण थे जिन्हें सचेत होने पर तुलसी ने पहचाना।

नौसिखिए कवि अपनी रचनाएँ किसी सिद्ध कवि के पास ले जाते हैं कि वह उन्हें सुधार-सँवार दे। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' का नियम हर जगह माना जाय तो अपनी अपनी डफली अपना-अपना राग चले, दूसरों की कविता कोई सुने ही न। साहित्य का सौन्दर्य किन्हीं नियमों के अधीन न होता और हर व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता तो एक दूसरे का सौन्दर्य हम समझ ही न पाते।

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता मनुष्य के व्यवहार के कारण ही नहीं है; उसकी वस्तुगत सत्ता स्वयँ वस्तुओं में है जिनके गुण पहचानकर हम उन्हें सुन्दर की संज्ञा देते हैं। कहीं हम आकार-प्रकार को, कहीं रूप रङ्ग को, कहीं घ्राण और स्पर्श के विषयों को उनके विशेष अनुपातों के अनुसार सुन्दर-असुन्दर की संज्ञा देते हैं। लम्बी नाक सुन्दर है, चपटी नाक असुन्दर है, काले बाल सुन्दर हैं, खिचड़ी बाल असुन्दर हैं, गुलाब का फूल सुन्दर है, कुकुरमुत्ता असुन्दर है—यहाँ आकार-प्रकार, रङ्ग-रूप और

घ्राण-स्पर्शादि विषयों के अनुपात को हम सुन्दर-असुन्दर की संज्ञा देते हैं।

डिकेंस के उपन्यासों का कथानक शिथिल है, प्रेमचन्द बहुधा एक कथा के साथ बहुत-सी कथाएँ उलझा देते हैं, निरालाजी के (गीत एक आचार्य के अनुसार) ठूँठ-जैसे हैं,—यहाँ हम विषय वस्तु के गठन को सुन्दर या असुन्दर कहते हैं। विषय-वस्तु की शिथिलता या सुथरापन हममें नहीं है, वरन उन रचनाओं में है, हम उसे देख पायें या न देख पायें—यह दूसरी बात है।

जाको पिया चहै सोई सुहागिन,—यह नियम सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता के खिलाफ नहीं जाता। कभी-कभी किसी दीवाने को लोग किसी कुरूप स्त्री पर रीझते देखकर आश्चर्य करते हैं। देखनेवालों को लगता है कि इस दीवाने को कुरूपता ही सुन्दर लगती है। लेकिन दीवाने दर-असल देखनेवाले हैं जो सौन्दर्य को इन्द्रियबोध तक सीमित रखते हैं, जो यह नहीं समझ पाते कि उनकी आँखों से कुरूप नारी के चरित्र की जो विशेषताएँ ओझल हैं, उन्हें वह तथा कथित दीवाना देखता है। उसकी दीवानगी से यह नतीजा नहीं निकलता कि इन्द्रिबोध के धरातल पर वह स्त्री कुरूप नहीं है, बल्कि यह निकलता है कि सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है; वह भावों और विचारों में भी निहित है।

दरबारी साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह शारीरिक रूप तक अपने को सीमित रखता है। उसके रसराज की अथ और इति नख-शिख और सुरति-वर्णन से हो जाती है। संस्कृत-कवियों की पुरानी उक्ति है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समान हैं; मनुष्य की विशेषता उसका अपना धर्म है। दरबारी साहित्य-शास्त्री कला की व्यापकता उस धरातल पर सिद्ध करते हैं जहाँ मनुष्य और पशु में विशेष अन्तर नहीं है, अन्तर है तो इतना ही कि पशुओं का जीवन आहार-निद्रा-भय-मैथुन के धरातल पर इतना कृत्रिम नहीं होता।

इंद्रियबोध के स्तरतक जो सौंदर्य सीमित है उससे जरा ऊंचे उठकर जहाँ आप भावना और विचार के सौंदर्य के स्तर पर आते हैं वहीं नैतिकता का सवाल सामने आ खड़ा होता है। साहित्य से आनन्द मिलता है, यह अनुभव-सिद्ध बात है, लेकिन साहित्य-शास्त्र यहाँ समाप्त नहीं होता; बल्कि यहीं से उसका श्रीगणेश होता है। माना कि साहित्य से आनन्द आता है, लेकिन किस तरह का आनन्द आता है, उससे आपके कर्ममय जीवन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है, किस तरह के संस्कार आपके मन में बनते-बिगड़ते हैं; ये तमाम समस्याएँ साहित्य-शास्त्र को ही समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के उठते ही साहित्य-शास्त्री दो खेमों में बँटे हुए दिखाई देते हैं। एक खेमे में वे हैं जो आनन्द की परिणति आनन्द ही में मानते हैं, साहित्य के प्रभाव से बनने-बिगड़ने वाले संस्कारों—मनुष्य के कर्ममय जीवन पर साहित्य की प्रतिक्रिया—पर विचार करना आवश्यक नहीं समझते। दूसरे खेमे में वे हैं जो साहित्य को शुद्ध आनन्द रूप नहीं मानते, वरन् मनुष्य-जीवन में उसके प्रभाव पर भी विचार करते हैं यानी उसकी उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं। पहले खेमे में तमाम भाववादी (आइडियलिस्ट) विचारक आते हैं जो साहित्य को केवल मनोरञ्जन की वस्तु समझते हैं। इन्हीं में वे रूप-वादी शामिल हैं जो साहित्य की व्यापकता और सार्वजनीनता उसके कौशल या रूप देखते हैं। इनके विरुद्ध सोद्देश्य साहित्य का समर्थन करनेवाले, सौंदर्य को उपयोगी माननेवाले केवल भौतिकवादी ही नहीं हैं, वरन् वे तमाम ब्रह्मवादी, भाववादी, धार्मिक और जनसेवी साहित्य-कार भी हैं जो भौतिकवादी दर्शन न मानते हुए भी जनता से प्रेम करने के कारण उसके उपकार के लिए साहित्य रचते रहे हैं। इस दूसरे खेमे ही में हमारे देश के सबसे बड़े कवि और विद्वान् रहे हैं। यह कहना असङ्गत न होगा कि 'साहित्य जनता के लिए'—यह हमारा जातीय सिद्धाँत बन चुका है।

सौन्दर्य और उपयोगिता—दो विरोधी वस्तुएँ मालूम होती हैं, लेकिन उनकी द्वन्द्वात्मक एकता के बिना साहित्य रचना असम्भव है। जो

लोग उपयोगिता से इन्कार करते हैं, वे वास्तव में सौन्दर्य के घटिया उपयोग को छिपाना चाहते हैं। उनके लिए सौन्दर्य इन्द्रियबोध तक सीमित है; अपने विलास और मनोरञ्जन पर वे शुद्ध आनन्द का पर्दा डालते हैं। लेकिन सहृदय कवियों के लिए सुन्दर कर्म से बाहर सौन्दर्य की सत्ता है ही नहीं। उनका साहित्य मानव-कर्म से ही प्रभावित होता है, मानव-कर्म को प्रभावित करने के लिए होता है। आदिकवि वाल्मीकि ने व्याध के क्रूर कर्म पर क्रुद्ध होकर और क्रौंच के विलाप पर द्रवित होकर कैसे श्लोक बनाया, वह कहानी साहित्य के जन्म का अच्छा रूपक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस घटना पर टिप्पणी की है—'मुनि ने तमसा-तट की इस घटना में सम्पूर्ण लोक-व्यापार का नित्य स्वरूप देखा। इससे वे हताश नहीं हुए। ध्यान करने पर उसीके भीतर उन्हें मङ्गलमयी ज्योति का दर्शन हुआ जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य—तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय था।'—(काव्य में रहस्यवाद)

निरुद्देश्य साहित्य के प्रेमी जब सौन्दर्य की बात करते हैं तब शक्ति और शील की बात भूल जाते हैं। शुक्लजी ने शुद्ध आनन्दवादियों और शाश्वत सौन्दर्य के उपासकों को अपनी युक्ति से निरुत्तर कर दिया है। शुद्ध कलावादी सज्जन आचार्य शुक्ल के लिए यह तो कहते हैं कि उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र का अपने ढङ्ग से अध्ययन किया और अपने ढङ्ग के परिणाम निकाले; लेकिन वे यह नहीं बताते कि रीतिकालीन शास्त्रियों और शुक्लजी में अन्तर क्या था ? शुक्लजी ने न सिर्फ रीतिकालीन कवियों का मुलम्मा उतार दिया था, वरन् उन्होंने उनके साहित्यशास्त्र का ठाट भी उलट दिया।

शुक्लजी भौतिकवादी नहीं थे, वरन् विशुद्ध आस्तिक थे। फिर भी उनकी विचार-पद्धति पर द्वन्द्ववाद का गहरा असर है। वह दार्शनिक हेगल की याद दिलाते हैं जिसका विश्व-दर्शन भाववादी था, लेकिन जिसकी विचार-पद्धति द्वन्द्ववादी थी। इसीलिए जो लोग वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम पर त्रिकाल-सत्य सौन्दर्य और सदाबहार प्रगति-

शीलता की बातें करते हैं, उनसे शुक्लजी के विचार कहीं ज्यादा वैज्ञानिक हैं।

संसार को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हुए शुक्लजी इस सत्ता को सतत गतिशील मानते हैं। इसी कारण उनके लिए सौन्दर्य भी स्थिर और शाश्वत न होकर गतिशील है, उसकी नित्यता उसकी गतिशीलता ही में है। 'काव्य में रहस्यवाद' में वह कहते हैं—'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौन्दर्य और स्थिर मङ्गल कहीं नहीं, गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मङ्गल ही है; पर सौन्दर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मङ्गल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौन्दर्य और मङ्गल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मङ्गल है।

आलोचक का काम इस गत्यात्मक सौन्दर्य की व्याख्या करना होता है। और यह सौंदर्य गत्यात्मक मङ्गल से भिन्न नहीं है। शुक्लजी के लिए यह गतिशीलता ब्रह्म की व्यक्त सत्ता का रूप है। भौतिकवादी के लिए इस गतिशील संसार से परे कोई अव्यक्त सत्ता नहीं है। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में गत्यात्मक सौन्दर्य का अध्ययन करने में दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं।

जो कुछ सुन्दर है, वह मङ्गल भी है, लेकिन जो कुछ मङ्गल हो वह कलात्मक दृष्टि से) सुन्दर भी हो—यह आवश्यक नहीं। राजनीति की पुस्तकें, नैतिकता के सिद्धाँत, विज्ञान के आविष्कार लोक-मङ्गल के लिए हो सकते हैं, लेकिन हम उन्हें सौन्दर्य का पर्यायवाची मानें—यह आवश्यक नहीं। साहित्य के लोक-मङ्गल की अपनी विशेषता है जिससे वह नीति, विज्ञान, दर्शन आदि के लोक-मङ्गल से भिन्न ठहरता है।

साहित्य के लोक-मङ्गल की यह विशेषता उसकी अभिव्यक्ति में भी है और उसके आँतरिक गठन में भी। यह विशेषता साहित्य के रूप में भी है और उसकी विषय-वस्तु में भी।

साहित्य के रूप की विशेषता उसकी इंद्रिय-सुखद गठन है। नीति,

दर्शन और विज्ञान में जो विचार प्रकट किए जाते हैं, वे निराकार नहीं होते। भाषा का भौतिक रूप वहाँ भी होता है। लेकिन वे विचार अपने सूक्ष्म रूप में प्रकट किए जाते हैं; उन्हें इंद्रिय-सुखद मूर्त रूप देना आवश्यक नहीं होता। साहित्य के रूप की यह सेंद्रियता (Sensuousness) उसे दर्शन और विज्ञान के रूप की सूक्ष्मता (Abstraction) से भिन्न करती है।

रानी लक्ष्मीबाई वीर नारी थीं, इस विचार को व्यक्त करने के लिए चित्रकला में झाँसी का किला, घोड़े पर लक्ष्मीबाई, डूबते हुए सूर्य की लालिमा और गोरों के कटे हुए सिर—यह सब दिखाना होगा। यही भाव सङ्गीत में दर्शाने के लिए दुर्गा या मारवा का सहारा लेकर मूर्त्त स्वरारोह-अवरोह से 'सकिलि स्रवनमग चलेउ सुहावन' की उक्ति चरितार्थ करनी होगी। साहित्य में उसी के लिए श्री वृन्दावनलाल वर्मा की कलम का सहारा लेकर बहुत-सी घटनाओं का वर्णन, चरित्र-चित्रण आदि करना होगा। साहित्य में जहाँ हम लोक-मंगल को दर्शन और विज्ञान की तरह उसकी सूक्ष्मता (Abstraction) में प्रकट करने लगते हैं, वहीं साहित्य का रूप अपनी विशेषता खो देता है।

लेकिन साहित्य और दर्शन या विज्ञान का अंतररूप का ही अंतर नहीं है। अन्तर विषयवस्तु का भी है। दर्शन और विज्ञान यथार्थ की छानबीन करके हमारे सामने कुछ विचार रखते हैं, यह उनका मुख्य काम है। लेकिन साहित्य हमारे सामने यथार्थ का चित्र भी पेश करता है। साहित्य की विषयवस्तु में विचार ही नहीं होते; विचारों की भूमि—मनुष्य का कर्ममय जीवन भी होता है। दर्शन और विज्ञान की सहायता से हम यथार्थ को समझना चाहते हैं; साहित्य की सहायता से हम यथार्थ को समझना ही नहीं चाहते, उसे देखना भी चाहते हैं।

साहित्य की विषयवस्तु की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें विचार ही नहीं होते, यथार्थ जीवन का चित्र ही नहीं होता, इस यथार्थ जीवन और विचारों के प्रति मनुष्य की भावना, उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी होती है। विज्ञान और दर्शन का काम मनुष्य की भावनाओं को

जगाना, उसका परिष्कार करना, उसकी पुष्टि करना नहीं होता, यह काम मुख्यतः साहित्य का है। कला और साहित्य की सरसता का सबसे बड़ा कारण उनका यह भावनामूलक स्वभाव है।

मोटे तौर पर कह सकते हैं कि साहित्य में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियाँ, हृदय और मस्तिष्क—तीनों का समन्वय होता है। रूप भावना और विचार की एकता से कला की सृष्टि सम्भव है। इसी एकता के कारण साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान के प्रभाव से भिन्न होता है। साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार ही नहीं देता, वह उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रेरणा भी देता है। वह हमारा मनोबल दृढ़ (या क्षीण) करता है, हमारा चरित्र बनाता या बिगाड़ता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक तर्क द्वारा हमें भले आश्वस्त कर दें या पराजित कर दें, उनके श्रेष्ठ विचारों में आस्था पैदा करना, उन विचारों को आचरण में उतारने के लिए दृढ़ संकल्प पैदा करना साहित्य का ही काम है। इसी लिए मानव-चरित्र पर, किसी जाति या राष्ट्र के चित्र पर, मनुष्य के कर्ममय जीवन पर जितना प्रभाव साहित्य का पड़ता है उतना दर्शन या विज्ञान का नहीं। साहित्य की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है।

जो लोग कहते हैं कि साहित्य में विचारों का महत्व नहीं है, महत्व विचारों की अभिव्यक्ति के ढंग का है या महत्त्व केवल भावना (इमोशन) का है, वे साहित्य का प्रभाव कम कर देते हैं, रूप-भावना-विचार में किसी एक का ही महत्व घोषित करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने साहित्य की प्रक्रिया का बहुत ही युक्ति पूर्ण वर्णन किया है—

हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जो बरखै बर वारि विचारू।
होहिं कवित मुकता-मनि चारू।

यहाँ गोस्वामीजी ने साहित्य में विचारों की उदात्त भूमिका को उचित स्थान दिया है। श्रेष्ठ विचारों के न होने पर केवल हृदय-सिंधु से काव्य के मुक्ता-मणि निकालना असम्भव है। गोस्वामीजी रामकथा रूपी जल

के लिए यह भी कहते हैं—'सो जल सुकृत सालि-हित होई।' साहित्य के रस का सीधा प्रभाव मनुष्य के सुकृतों पर, उसके कर्म पर पड़ता है। इसीलिए यह प्रभाव किस तरह का है—यह जानना-परखना आलोचक का कर्तव्य हो जाता है।

भाववादी विचारक मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरंतन मानकर चलते हैं। साहित्य के रस की नौ श्रेणियाँ करने के पीछे भी यही दर्शन है। लेकिन मनुष्य का जीवन इस सीधे विभाजन से ज्यादा पेचीदा है। रीतिकालीन शैली के आलोचक किसी उपन्यास में कुप्रथा की बुराइयाँ देखकर उसे वीभत्स-प्रधान कहते हैं; किसान-जमीदार-संघर्ष के चित्रण में करुण रस की व्याख्या करते हैं; गहनों से प्रेम करने के दुष्परिणाम को शृङ्गाराभास से सच्चे शृङ्गार की ओर आना कहते हैं और राजनीति से सम्बद्ध उक्तियों को वीररस कहते हैं।

यही नहीं कि साहित्य की विषयवस्तु नौ रसों के साँचे में ढलने से इन्कार करती है, बल्कि भाववादी विचारधारा के प्रतिकूल मनुष्य के विचार और उसकी भावनाएँ परिवर्तनशील भी हैं। जिन्हें हम मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ—इंस्टिंक्ट—कहते हैं, वे भी विकास-मान हैं, उनका भी इतिहास है। अन्तर इतना ही है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियों में इतने धीरे परिवर्तन होता है कि हम उन्हें प्रायः अप-रिवर्तनशील कहते हैं जबकि दूसरी वृत्तियाँ, दूसरी भावनाएँ जल्दी बदलती हैं। मिसाल के लिए मनुष्य में समूह या व्यक्ति की भावना का विकास या ह्रास व्यक्तिगत सम्पति के जन्म, विकास और ह्रास के साथ जुड़ा हुआ है। वर्गयुक्त समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ की जिन वृत्तियों को मनोविज्ञान के पण्डित शाश्वत मानते हैं, वर्गहीन समाज में उन्हीं का अभाव दिखाई देता है।

इसीलिए साहित्य से समाज-विज्ञान का गहरा संबन्ध है। समाज-विज्ञान मानव-जीवन के बदलते हुए मूल्यों का पहचानना सिखाता है। साहित्य की विकासमान, परिवर्तनशील विषयवस्तु रचनाकार का मन-

माना व्यापार न होकर समाज का आधार पाकर सार्थक दिखाई देती है।

किसी भी युग का साहित्य उस समय के संसार और समाज के प्रति प्रचलित धारणाओं से अछूता नहीं रहता। साहित्यकार संसार और समाज के प्रति कोई-न कोई दृष्टिकोण अपनाए बिना तो रचना कर ही नहीं सकता। समाज-विज्ञान के विकास ने उसके सामने समस्या यह खड़ी करदी है कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाए या अवैज्ञानिक! साहित्यकार विज्ञान के प्रकाश की सहायता से अपनी रचनाएँ और भी प्रभावशाली बना सकता है, उन्हें समाज के हित के लिए और भी सुन्दर तथा उपयोगी बना सकता है।

कौन-सा दृष्टिकोण, कौन-से विचार सही हैं, कौन-से गलत—इसकी कसौटी व्यवहार है। मनुष्य का सबसे बुनियादी व्यवहार उत्पादन-क्रिया है, खाने-पहनने-रहने के साधन जुटाने की क्रिया है। मनुष्य के विचारों का बहुत ही नजदीकी सम्बन्ध इस क्रिया से होता है। श्रम के विभाजन के सिलसिले में वर्ग बनते हैं, वर्गों के हित आपस में टकराते हैं। उनके विचार आपस में टकराते हैं। हमारे समाज में जितने वर्ग हैं, उनमें मजदूर-वर्ग ऐसा है जिसका सम्बन्ध उत्पादन के सबसे आगे बढ़े हुए रूप से है। अपने जीवन की इस परिस्थिति के कारण मजदूर-वर्ग समाज को बदलने में अग्रदल की भूमिका अदा करता है, और सभी वर्गों की अपेक्षा वह सबसे आगे बढ़ी हुई विचारधारा का वाहक बनता है।

प्रत्येक युग में कोई विशेष वर्ग और उस वर्ग के प्रतिनिधि साहित्य के निर्माण में अगुवाई करते हैं। आज के युग में यह काम मजदूर-वर्ग और उसके प्रतिनिधियों द्वारा सम्पन्न हो रहा है।

किसी भी युग में कोई भी वर्ग एकदम नए सिरे से साहित्य या संस्कृति की रचना नहीं करता। वह मनुष्य की तबतक की सञ्चित ज्ञान-राशि से लाभ उठाकर, अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्याङ्कन करके और उसके स्वस्थ तत्त्वों के आधार पर ही नए साहित्य, नई संस्कृति का

निर्माण करता है।

भारतीय साहित्य तो रक्षा करने योग्य, जन-साधारण के लिए सुलभ बनाने योग्य है ही, भारतीय काव्यशास्त्र में भी ऐसे तत्त्व हैं, जिनका द्वन्द्व-सिद्धान्त के आधार पर विकास सम्भव है। रस-निष्पत्ति के सिलसिले में उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यञ्जना-वाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, वे एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक साबित हो सकते हैं।

रङ्गमञ्च पर नट किसका प्रेम दिखाता है? वह राम का या दुष्यंत का प्रेम दिखाता है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य में जिन भावनाओं का चित्रण होता है, उनकी स्थिति वास्तविक जीवन में है। साहित्य य ार्थ जीवन का ही चित्रण करता है।

नाटक देखनेवाला नट को ही राम समझता है। इस तरह कला जीवन का भ्रम (इल्यूजन) उत्पन्न करती है। लेकिन भ्रम और वास्तविक जीवन का सम्बन्ध क्या है? कला का 'भ्रम' जीवन से उत्पन्न होता है और जीवन को ही पुष्ट करता है। मतलब यह है कि साहित्य यथार्थ जीवन की छवि ही नहीं आँकता, उस जीवन को और भरा-पूरा भी बनाता है।

नट को यदि दर्शक राम ही समझता रहे तो उसे रसबोध न हो। उसके लिए रङ्गमञ्च के राम और किसी प्रेमी नायक में अंतर नहीं रहता। इस तरह कला के विशेष पात्र समाज के साधारण जनों की भावनाएँ व्यक्त करते हैं। साहित्य साधारण और असाधारण—जेनरल और पर्टिकुलर—के विरोधी तत्त्वों की एकता प्रकट करता है। यदि दुष्यन्त हर प्रेमी के समान हो तो वह दुष्यन्त न रह जाय; उसके व्यक्तित्व की अपनी विशेषता न रहे। यदि वह इतना असाधारण हो जाय कि साधा-रण प्रेमियों से समानता न रहे, तो उसके क्रियाकलाप से औरों को दिलचस्पी न रहे। इसीलिए साहित्य की विषयवस्तु साधारण और असाधारण, मौलिक और उधार ली हुई—दोनों होती है।

श्रोता और दर्शक में पहले से रस-ग्रहण की शक्ति न हो तो वह

नाटक देख-सुनकर ज्यों-का-त्यों लौट आए। साहित्य का प्रभाव सहृदय मनुष्य प रही पड़ता है, लेकिन एक बार प्रभाव पड़ने पर उसकी सहृदयता निखरती भी जाती है। साहित्य और पाठक या श्रोता की सहृदयता का यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है।

सौन्दर्य और उपयोगिता का भी ऐसा ही सम्बन्ध है। साहित्य मानव-जीवन के लिए आवश्यक कार्यवाही है। साहित्य मनुष्यों को सङ्गठित करने और उनके जीवन को परिवर्तित करने का एक साधन है। शासकवर्ग प्रयत्न करता है कि इस अस्त्र से जनसाधारण की चेतना को कुंद कर दे, उसे अफीम की घूंटी देकर उसे न्याय-अन्याय के प्रति अचेत कर दे या उसे झूठे न्याय, झूठे सत्य. झूठी नैतिकता में फँसाकर उसे अपने शिकंजे में जकड़े रहे। साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता यह होगी कि वह साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की वास्तविकता प्रकट कर दे, जनता के लिए अहितकर साहित्य और अहितकर साहित्य-शास्त्र से भ्रम का पर्दा उठा दे।

सौंदर्य का स्रोत जनता है। समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्व है, जो जीवंत और उदीयमान तत्त्व हैं, इनसे बाहर सुन्दर-असुन्दर की सत्ता नहीं है। जो जीर्ण और मरणशील हैं, उनके लिए सुन्दरता मृत्यु में है, अन्याय-अत्याचार को फरेब से ढँकने में है, भविष्य से त्रस्त होने और क्षण में ही जीवन की साधें पूरी करने में है। जो जीवित और उदीयमान हैं, उनके लिए सुन्दरता सत्य में है, मृत्यु को जीतने में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने में है, सुख और शान्ति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है। साहित्य उस मंजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है।

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है, लेकिन विरोधी वर्ग उसे अलग-अलग निगाह से देखते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द ने कहा था—'हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभीतक वह कसौटी अमीरी और विलसिता के ढङ्ग की थी।......कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूपपूजा का, शब्द-योजना का भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं

है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं।''''साहित्य-कार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरञ्जन का समान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।'

हमारे युग की सबसे बड़ी सचाई यह है कि पुरानी अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था पर सशक्त वार करती हुई जनता आगे बढ़ रही है, अङ्गरेज दस्युओं की रची हुई औपनिवेशिक व्यवस्था पर वह वज्र-प्रहार करने के लिए सङ्गठित हो रही है। हिन्दुस्तान के लोग अपना भाग्य बदलने जा रहे हैं, यह सत्य कुछ सज्जनों के लिए नितान्त असुन्दर है; उनके लिए सौन्दर्य है उस व्यवस्था में जिसमें लाखों मनुष्य प्रतिवर्ष भूख और महामारी के शिकार हों। सौंदर्य की यह कसौटी बदलनी होगी। हिन्दी साहित्य तुलसी-भारतेन्दु-प्रेमचन्द की परम्परा पर आगे बढ़ते हुए आज के युग की सबसे बड़ी सचाई का चित्रण करेगा, वह अन्धकार में इस नए जीवन की किरण फूटने में सौंदर्य देखेगा और ऐसे जन-साहित्य के अनुकूल हमारा साहित्य-शास्त्र भी विकसित होगा।

सन्त-साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ

सन्त कौन थे ? सन्त-साहित्य में किस साहित्य को लिया जाय, किसको छोड़ा जाय ?

कुछ विद्वान सन्त का अर्थ निर्गुणपन्थी साधु ही लगाते हैं। उधर गोस्वामी तुलसीदास जैसे सगुणपन्थी कवि भी सन्त शब्द अपनाते हैं, अपने को उसी सन्त-परम्परा का अनुयायी मानते हैं। 'सन्त' शब्द से संसारत्यागी महात्मा का अर्थ लेना भी ठीक नहीं। सन्तों में बहुत-से गृहस्थ थे। सन्तों से केवल हिन्दू-महात्माओं का बोध करना ठीक नहीं; इनमें अनेक मुसलमान थे जो इस्लाम की कट्टरता के भले विरुद्ध रहे हों, लेकिन उसे छोड़कर हिन्दू नहीं हो गये थे। सन्तों से हम पुरुष-कवियों या महात्माओं का ही बोध करें, यह भी उचित नहीं। यदि मीराबाई सन्त नहीं तो सन्त कौन है ?

सन्तों में स्त्री और पुरुष, संन्यासी और गृहस्थ, हिन्दू और मुसलमान, सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों हैं।

सन्तों की और सन्त साहित्य की विशेषताएँ क्या हैं ? सन्त लोकधर्म के संस्थापक हैं। हिन्दूधर्म और इस्लाम और बौद्धधर्म या जैनधर्म हो तो भी उनके कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र, कट्टर आचार-विचार और पुजारियों और मौलवियों की रीति-नीति के विरुद्ध ये संत मूलतः प्रेम के आधार पर मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति आदि के पक्ष में थे।

पुरोहितों और मौलवियों की धार्मिक भाषाओं संस्कृत और अरबी के बदले वे अपने लोकधर्म का प्रचार जनता की भाषा में करते थे।

दरबारी कवियों के विपरीत लक्षणग्रन्थों, नायिका भेद, अलङ्कारवाद का रास्ता छोड़कर इन्होंने मनुष्य की व्यापक और सहज भावनाओं का चित्रण किया।

इनके दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार बहुधा यह संसार असार बताया जाता है, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि मनुष्य के शत्रु बताये जाते हैं। इनमें से कुछ योगध्यान की बातें करते हैं, कुछ योग आदि का विरोध भी करते हैं। मोटे तौर से संत साहित्य की ये विशेषताएँ हैं।

संत साहित्य का सामाजिक आधार क्या है? इसका सामाजिक आधार जुलाहों, कारीगरों, किसानों और व्यापारियों का भौतिक जीवन है। संतसाहित्य भारतीय संस्कृति की आकस्मिक धारा नहीं है। यह देश की विशेष सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुई थी। इसीलिए यह एक भाषा या एक प्रदेश तक सीमित नहीं रही। उसका प्रसार श्रीनगर से कन्याकुमारी तक, गुजरात से बङ्गाल तक हुआ था। यह इस देश का सबसे विराट् सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसकी जड़ें दूर-दूर के गाँवों तक पहुँची हुई थीं।

संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में—या हिन्दू धर्म में—ढूँढ़ना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मलिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनु-स्मृति के टीकाकार हैं। संत साहित्य की अपनी विशेषताएं हैं जो मूलतः किसी प्राचीन धर्मग्रन्थ पर निर्भर नहीं हैं।

भारतीय जीवन की जिस परिस्थिति से संत-साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह है, सामन्ती शक्ति का ह्रास, सामन्ती ढाँचे का कमजोर पड़ना। कुछ लोगों का विचार है कि अङ्गरेजी राज कायम होने से पहले भारत में सामन्तवाद पूरी शक्ति से जमा हुआ था। यह धारणा इतिहास के तथ्यों के विपरीत है। १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं सदी में यहाँ व्यापार की बड़ी बड़ी मंडियाँ कायम होती हैं, पचीसों नगर व्यापार और साँस्कृतिक आदान-प्रदान के केन्द्र बनकर उठ खड़े होते हैं। लोहे और कपास का सामान काफी बड़े पैमाने पर तैयार किया जाता है। सैकड़ों वर्ष के बाद सामाजिक जीवन की धुरी गाँव से घूमकर नगर

की ओर आजाती है। सामाजिक जीवन की बागडोर सामन्तों के हाथ ही में नहीं रहती, व्यापारी भी उसमें हाथ बँटाने लगते हैं। राज्यसत्ता सामन्तों के हाथ में रहती है लेकिन बहुत से सामन्त भी अपनी शक्ति के लिये व्यापारियों का सहारा लेते हैं। गोला-बारूद का प्रयोग, एक से सिक्कों का काफी बड़े प्रदेशों में चलन, जागीरदारों का एक जागीर से दूसरी जगह भेजा जाना, सड़कों और नहरों का बनना, समाचार भेजने के लिए हलकारों की व्यवस्था, किसानों से सीधे राज्य कर लेने की व्यवस्था आदि ऐसी बातें थीं जिनसे गाँवों का अलगाव कम हुआ और सामन्ती शक्ति कमजोर पड़ी।

भारतीय समाज में यह परिवर्तन उसकी अपनी ही शक्तियों से हो रहा था। यहाँ के लोगों को व्यापार करना ईरानियों, पठानों, अरबों या तुर्कों ने नहीं सिखाया था। सैकड़ों वर्षों से कायम भारतीय सामन्त-वाद कभी का अपनी ऐतिहासिक भूमिका खत्म कर चुका था। उसे समाप्त करने वाली शक्तियाँ उसी के गर्भ में पुष्ट हो रही थीं। ये शक्तियाँ व्यापारियों, जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों की थीं जिनके साँस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सबसे बड़ी बाधा थी—सामंत-वाद। इन वर्गों का हित इस बात में न था कि हिन्दू और मुसल्मान आपस में लड़ें। जो सामंत उन्हें सताते थे, उनमें हिन्दू और मुसलमान सामन्त दोनों थे। जो धार्मिक नेता सामन्तों को ईश्वर का अवतार कह कर उनका राज्य कायम रखने में सहायता देते थे, उनमें मौलवी- पंडित, श्रमण सभी तरह के पुरोहित थे। इसीलिए धार्मिक विद्वेष के बदले सन्त-साहित्य में धार्मिक सहिष्णुता है, धार्मिक कट्टरता का विरोध है।

संत-साहित्य से पहले गाँव-गाँव और जनपदों में अपने धार्मिक रीति-रिवाज, अपने अन्धविश्वास थे। थोड़े से विद्वान् हिन्दू धर्म या इस्लाम की मूल पुस्तकें पढ़कर भले ही अपने को सच्चा हिन्दू और मुसलमान मानते रहे हों, लेकिन अपने दैनिक जीवन में जनता हर दस कोस पर धर्म को एक स्वतंत्र रूप देती चली गई थी। वास्तव में यह

बात अभी भी—सामन्ती अवशेषों के साथ भारतीय जीवन में बाकी है। सूर और तुलसी ने, प्रेममार्गी सूफियों ने लाखों मनुष्यों को, उनके ग्रामीण और जनपदीय अंधविश्वासों से अलग, नये सूत्रों में बाँधना शुरू किया। यह कार्य भी व्यापार की बढ़ती और यातायात की अधिक सुविधा से संभव हुआ।

इन संतों की भाषा में अनेक बोलियों के शब्द मिलते हैं, इसका कारण इनका जहाँ-तहाँ घूमना ही नहीं है। अवध, ब्रज, बुंदेलखण्ड आदि की जनता ज्यों की त्यों अपने जनपदों में बन्द न रहकर इधर-उधर बिखरने लगी थी। भोजपुरी और मैथिल जनपदों में अवधी बोलनेवाले, अवध में ब्रजभाषा या खड़ी बोली बोलने वाले प्रवेश करने लगे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और रामचन्द्र शुक्ल दोनों ही ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि पूर्व में खड़ी बोली का प्रसार पछाँह की व्यापारी जातियों ने किया। १६—१७ वीं सदी के आगरा और बनारस में एक से अधिक बोलियाँ सुनी जाती थीं। न केवल अनेक जातियों के व्यापारी वहाँ आते थे वरन् कारीगर, बुनकर, नौकरी पेशा लोग, सैनिक आदि भी वहाँ एकत्र होते थे। जनपदों का अलगाव कम होना, बोलियों का परस्पर घुलना मिलना इसी परिस्थिति से सम्भव हुआ। ब्रजभाषा के पद ब्रज तक सीमिति न रहे; वे सुदूर मिथिला और बुंदेलखण्ड के गाँवों में भी प्रवेश कर गये। गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रज भाषा ही में कविता नहीं की, उन्होंने अवधी में भी वैसी ही लोकप्रियता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि जनपदों में बँटी हुई जनता के बदले अब एक जातीय सूत्र में गठी हुई विराट् जनता हिन्दी-भाषी प्रदेश में विकास की नयी मञ्जिल की ओर बढ़ रही थी।

इससे स्पष्ट है कि धार्मिक प्रभावों की छान बीन से ही सन्त-साहित्य की विषय वस्तु या रूप—भाषा, भाव और विचार—का पूरा विश्लेषण नहीं हो सकता। उसका आधार सामन्ती ढाँचे में व्यापारियों और जनसाधारण की बढ़ती हुई शक्ति है।

संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामन्ती

व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता वरन् उसे कमजोर करता है। सामन्ती व्यवस्था में धरती पर सामन्तों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। सन्तों ने धर्म पर से यह पुरोहितों का इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं। यह तब और भी होता है जब जनता असङ्गठित होती है। यूरोप में भी मजदूर वर्ग के अभ्युदय और सङ्गठन के पहले सामाजिक सङ्घर्षों ने धार्मिक रूप लिया था। सामन्तों के खिलाफ जनता के सङ्घर्ष ने धार्मिक ठेकेदारी के खिलाफ सङ्घर्ष का रूप लिया था। इसलिए किसी आन्दोलन का धार्मिक रूप देखकर उसकी भीतरी ऐतिहासिक विषयवस्तु न भूल जाना चाहिये। आजकल अनेक आलोचक सन्त-साहित्य को—विशेषकर तुलसी साहित्य को—प्रतिक्रियावादी करार दे देते हैं; धर्म की बात सामने आते ही वह बिदक उठते हैं। इस तरह का दृष्टिकोण इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के विरुद्ध है।

साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि मध्यभारत में सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप इसलिए लेता था कि जनता असंगठित थी और उसकी राजनैतिक चेतना अभी पूरी तरह निखर नहीं पाई थी। संत-साहित्य के धार्मिक रूप पर बल देना—संसार को मिथ्या बताना, जनता से मुक्ति के लिए राम का नाम जपने और भाग्य के भरोसे बैठे रहने को कहना—और संत साहित्य की सामाजिक विषयवस्तु को भूल जाना भी अवैज्ञानिक है।

संत साहित्य का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः क्या है? उसका हमारी जातीय संस्कृति के विकास के लिए महत्व क्या है?

संत कवियों का एक सुसंगत दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं है। उस दृष्टि कोण में असंगतियाँ हैं। एक ओर ये कवि संसार को मिथ्या, ब्रह्म या परलोक को एक मात्र सत्य कहते दिखायी देंगे, दूसरी ओर वह प्रकृति,

सामाजिक जीवन और मानव सम्बन्धों के प्रति भी गहरी आसक्ति प्रकट करते दिखाई देंगे। इस असंगति का पहला कारण वर्ग-युक्त समाज में शासकवर्ग के दर्शन का प्रभाव है। इस दर्शन ने जनता को यह सिखाने की कोशिश की थी कि संसार मिथ्या है, इसलिए मनुष्य का इसी संसार में अपने सुखी जीवन के लिए लड़ना आवश्यक नहीं है। इस दर्शन ने मनुष्य को सिखाया था कि उसके दुखों और निर्धनता का कारण सामाजिक व्यवस्था नहीं है, शासक वर्ग द्वारा उसकी मिहनत का फल छीनना नहीं है, वरन् उसके कर्मों का फल है, पूर्व जन्म के पाप हैं, ईश्वर से काफी प्रार्थना न करना है, इत्यादि। इस दर्शन का प्रभाव पूरी तरह तभी मिटता है जब जनता संगठित होती है, अपनी एकता की शक्ति पहचानती है, सामाजिक संघर्ष के दौर में अपने वास्तविक शत्रुओं को, उनकी नीति, उनके शोषण और अत्याचार को पहचानती है। मध्यकालीन साहित्य पर भाग्यवाद, मायावाद, निष्क्रियता आदि की भावनाओं का असर है —इसका ऐतिहासिक कारण है, उस समय के जन जीवन की सीमाएँ हैं।

कुछ लोग प्राचीन परम्परा के नाम पर जनता को गुमराह करते हैं, वे निष्क्रियता और भाग्यवाद की भावनाओं को ही सच्ची परम्परा कहकर उन्हें पूजते पुजवाते हैं। इतिहास के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले कुछ लेखक प्रगतिशीलता के नाम पर यही बात दुहराते हैं और दार्शनिक क्षेत्र में संत साहित्य के दूसरे पक्ष को छोड़ देते हैं जहाँ लोक-जीवन और लौकिक जीवन की स्वीकृति मिलती है।

संत साहित्य में सैकड़ों ऐसी पंक्तियाँ मिलेंगी जिनमें संसार त्यागने वाले, संसार से मुँह मोड़कर, मनुष्य से दूर, ईश्वर की खोज करने वाले महात्माओं पर व्यंग्य किया गया है। सन्तों में अनेक गृहस्थ थे, इसलिए यह अनिवार्य था कि वह संसार छोड़कर महात्मा बनने की परम्परा का कहीं-न-कहीं विरोध करें। बौद्ध और वेदान्ती दार्शनिक जहाँ संसार को मिथ्या और दुख का कारण बतलाते रहे थे, वहाँ तुलसीदास ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अलखवादियों का खंडन किया है, संसार को झूठा

कहने वालों को गँवार कहा है।

तुलसीदास की उक्ति है—

"झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है।
जात्रपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जानन जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।"

सूरदास ने अपने अनूठे पदों में निराकार ब्रह्म और योग द्वारा उसकी प्राप्ति का सरस खंडन किया है। सैकड़ों वर्षों से योग का जो महत्त्व चला आ रहा था, संसार छोड़ने वाले योगियों को महामानव समझने की जो प्रथा चली आ रही थी, उसका सबसे सबल विरोध सूरदास ने किया है। कबीर की व्यंग्य पूर्ण शैली में वे कहते हैं—

"आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े।"

संत-कवियों का लौकिक जीवन के लिए आग्रह, साकार ब्रह्म की उपासना, अवतारवाद, जायसी के साकार प्रतीकों में प्रकट हुआ है। एक बार जहाँ निराकार ब्रह्म को साकार माना, वहीं उसमें मानवोचित गुणों की प्रतिष्ठा होने लगी। निर्गुण पंथ की तुलना में सगुणोपासना का यह सापेक्ष महत्त्व है। निराकार ब्रह्म की उपासना यदि सन्तों को योग की ओर ले जाती थी तो साकार ब्रह्म की उपासना उन्हें भक्ति की ओर ले जाती थी। साकार ब्रह्म की उपासना के मिस संत कवियों ने उन मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की है जो इस देश की संस्कृति में अमर रहेंगे।

सन्त साहित्य के महत्त्वपूर्ण मानव मूल्य कौन से हैं? सन्त साहित्य की सामाजिक विषयावस्तु का ऐतिहासिक मूल्य क्या है?

सन्त साहित्य भारतीय जनता के प्रेम, घृणा, आशाओं और वेदना का दर्पण है। वह उसके हृदय की सबसे कोमल, सबसे सबल भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। वह उसकी मानवीय सहृदयता, लौकिक जीवन में आस्था और उज्ज्वल भविष्य की कामना का प्रमाण है। किस साहित्य

में सूर के बालकृष्ण का-सा सौन्दर्य वर्णन मिलेगा ? यह हिन्दी-भाषी जनता की अपनी विरासत है। पता नहीं सूरदास के आँखें थीं या नहीं लेकिन उन्होंने बालकृष्ण में जो कुछ हमें दिखाया है, वह हमारे किसान नित्य अपने बालकृष्णों में देखते हैं, देखना चाहते हैं। मनुष्यता की बहुत बड़ी निशानी भोले शिशुओं की रक्षा, उनसे स्नेह है। इस ऐटमबम के युग में जब लाखों नर नारियों और बच्चों को एक क्षण में नष्ट करने के षडयन्त्र रचे जा रहे हैं, भारत के अमर गायक सूर द्वारा कृष्ण की बाल लीला का वर्णन ध्वंस और विनाश के विरुद्ध एक चुनौती बनकर मानव को सजग करता है । सामन्ती गायकों ने जहाँ नायिकाओं के नखशिख और हावभाव के वर्णन से अपने अन्नदाताओं की निम्न वासनाओं को ही उभारा था, वहाँ सूरदास ने साहित्य में यशोदा और कृष्ण के नवीन और लोकप्रिय पात्रों की, अवतारणा की जनता के श्रेष्ठ संस्कारों को निखारा। हिन्दू और तुर्क सामन्तों का दुहरा उत्पीड़न सहती हुई भारतीय जनता के हृदय की अमिट सुकुमार भावनाएं ही यहाँ प्रकट हुई थीं, किसी अगोचर ब्रह्म के अलौकिक गुण नहीं।

"कवितावली" के वे छन्द बहुत ही सुन्दर हैं जिनमें तुलसी ने राम के बाल रूप का वर्णन करते हुए सूर से होड़ की है। यों तन्मय और आत्मविभोर होकर तुलसी ने भी कम छन्द रचे हैं।

रीतिकालीन साहित्य शास्त्र में जिन रसों का विधान किया गया था, उनकी सीमाएँ तोड़कर यह रस प्रवाहित हुआ था । आचार्यों को वात्सल्य रस की कल्पना करनी पड़ी, शास्त्र को साहित्य कारों की प्रतिभा के सामने झुकना पड़ा।

सूर ने राधा और गोपियों के प्रेम में भारतीय नारी के हृदय में छिपी हुई प्रेम की प्यास को वाणी दी। यह प्रेम कृष्ण के लिए है, अलौकिक है। सामन्ती समाज में जाति प्रथा, कुण्डलीचक्र, दहेज और संपत्ति के अनेक बन्धन-बाधाएँ होते हुए भी कौन नहीं जानता कि निर्धन जनता में राधा और कृष्ण का सा प्रेम लौकिक जीवन में, अपने लौकिक रूप में भी वर्तमान था ? सूर, मीरा, चंडीदास आदि कवियों ने इसी वात्स-

विक प्रेम के गुण, प्रेम की सच्ची लगन, विरह की सची व्यथा, सामाजिक बंधनों की वास्तविक अवहेलना राधा और कृष्ण के प्रेम में चित्रित की है। "वैष्णव कविता" में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही वैष्णव कवियों के प्रेम-वर्णन के लौकिक आधार की ओर संकेत किया है।

कालिदास ने "मेघदूत" में जिस प्रेम-कविता का स्वर मुखर किया था—वह प्रेम-कविता जिसका आधार माँसलता, नारी के उपयोग की कामना ही नहीं हैं, जो यूरोप के रोमाँटिक कवियों की "लिरिक" रचनाओं का भारतीय पूर्व-संस्करण है—उस व्यक्तिगत प्रेम के स्वर को सूर और मीरा ने और भी उदात्त किया। राजदरबारी कविता में नारी के प्रेम को कभी यह स्थान न मिला था जो उसे सूर और मीरा ने दिया। नारी उपभोग की वस्तु थी, उससे प्रेम याचना करने वालों की कमी न थी लेकिन उसे भी अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करने का अधिकार है, यह दरबारी कवियों की समझ से परे थी। नारी के इस दबे हुए व्यक्तित्व को सूर और मीरा ने वाणी दी, उसकी निर्भीकता, लगन और प्रेम के लिए त्याग और बलिदान को उन्होंने वाणी दी।

यह प्रेम अतीन्द्रिय नहीं था। उसमें मानवसुलभ सुख कामना भी है। लेकिन मानवसुलभ सुखकामना एक बात है, राजदरबारों की विलासिता दूसरी बात। सूर और तुलसी ने राजदरबारों की विलासता और संसार को मिथ्या कहने वाले संन्यासियों—दोनों से अपने को दूर रखा है। उनका जीवन-दर्शन इस संसार की ओर, मानव संबन्धों की ओर उदासीनता नहीं है; वह संसार और मानवसंबन्धों की सरसता और नीरसता का पारखी है। इसीलिए तुलसी के राम पुष्प-वाटिका में मदन दुंदुभी सुन सके, बरवै रामायण में तुलसी ने अपनी सुकुमार शृङ्गार-कल्पना को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

अनेक सन्तों को काम क्रोध मद लोभ से परेशानी थी। वे समझते थे कि इनको निर्मूल किये बिना मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता। तुलसी ने रामचरितमानस में दिखलाया है कि इनको नियंत्रित करके—न कि उन्हें निर्मूल करके—मनुष्य आदर्श जीवन बिता सकता है। एक ओर काम

की अतिशयता रावण में है और इसीलिए उसका पतन होता है। दूसरी ओर नारद मुनि काम को निर्मूल करने का दंभ करते हैं और उन्हें बंदर की शकल मिलती है। इनके विपरीत नियंत्रित शृंगार भावना उन्होंने राम और सीता के चरित्र में दिखायी है। क्रोध की अतिशयता परशुराम में दिखायी देती है, इसीलिए उन्हें हास्यास्पद बनना पड़ता है। उधर सुग्रीव क्रोध करना भूल गया है, अपनी पराजय से संतप्त अलग पड़ा रहता है। सात्विक क्रोध का उदाहरण राम में दिखायी देता है जब वह समुद्र पर कोप करते हैं।

काम, क्रोध, मद, लोभ को निर्मूल न करके उन्हें नियंत्रित करने का अर्थ है जीवन की स्वीकृति। मलिकमुहम्मद जायसी ने जब ईश्वर-बंदना करते हुए लिखा था—

"दीन्हेसि नयन जोति उजियारा। दीन्हेसि देखै कहं संसारा।"

तब जीवन की यही स्वीकृति व्यक्त की थी। यह संसार सुन्दर है, यहाँ सुनने, देखने, सूँघने के लिए अनेक पदार्थ हैं; मनुष्य के पास जो इन्द्रियाँ हैं, वे उसे भरमाने वाली नहीं वरन् ईश्वर को स्मरण करने का साधन हैं। जायसी जब सुरङ्ग कपोल और पान से रचे ओंठ देखते हैं तब ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि तुमने संसार खूब बनाया है।

अनेक उदार विचारक मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम सभ्यता के समन्वय की बात करते हैं। मुसलमान अनेक देशों से आये थे; उनकी जातियाँ और भाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। कोई अरब था, कोई ईरानी, कोई पठान, कोई तुर्क। इन सब का धर्म एक होते हुए भी इनकी जातीय संस्कृति अलग-अलग थी। इसी तरह यहाँ भी बङ्गाल, महाराष्ट्र, पञ्जाब आदि की संस्कृति अलग-अलग थी। इसीलिए पञ्जाबी, बङ्गला, ब्रज आदि में जिन मुसलमानों ने कविता की थी, उसकी विषय वस्तु इस्लाम नहीं है, न इस्लाम और हिन्दू धर्म का समन्वय है वरन् उसका मूल तत्व-जनता की जातीय संस्कृति है। इसीलिए यह समन्वय की बात उदार लगते हुए भी अवैज्ञानिक है; उसका आधार धार्मिक आचार विचार को संस्कृति समझ बैठना है, उसका आधार यहाँ की जनता के

सॉंस्कृतिक विकास को कम करके आंकना है। इसके सिवा पूर्वी बङ्गाल के या पच्छिमी पञ्जाब के या सिंध के या अवध के मुसलमान सब बाहर से नहीं आये थे। उनमें से अधिकॉंश यहीं के थे और धर्म बदलने से उनकी संस्कृति नहीं बदल गयी।

इसलिए जायसी जैसे कवि को सॉंस्कृतिक समन्वय का कवि न कहकर जन-संस्कृति का कवि कहना ज्यादा उचित होगा। जायसी ने कुरान की भी दुहाई दी है, पुराण और वेदों की भी दुहाई दी है, लेकिन जायसी के काव्य की मूल विषय-वस्तु, उसकी शैली और कला यहॉं की जनता की अपनी वस्तु है। हीरामन तोता की कहानी जायसी ने यहीं के गॉंवों में सुनी थी। यहीं के पनघट देखकर लिखा था :

"पानि भरै आवहिं पनिहारी। रूप सुरूप पद्मिनी नारी।
पदुमगंध तिन्ह अंग बसाहीं। भंवर लागि तिन्ह संग फिराहीं॥"

यहीं के बारहमासे सुनकर जायसी ने कॉंस के बनों, कार्तिक की चॉंदनी, आम के बोरों का वर्णन किया था। यहीं के धूम, साम, धौरे घनों पर से सेत धजा बगपांति देखी थी।' यहीं के सेंन्दुर, बुक्का और धमारी को देख कर जायसी ने लिखा था :

सेंदुर-खेह उड़ा अस, गगन भएउ सब रात।
राती सगरिउ धरती, राते बिरिछन्ह पात॥

जायसी की महत्ता इस बात में है कि वह अवध की धरती, वहॉं की जन संस्कृति, वहॉं की बोली-बानी के सबसे निकट हैं। अवध की सरसता को किसी ने इस तरह नहीं पहचाना जैसे जायसी ने। लोकसंस्कृति में कितना सौन्दर्य है, शक्ति है, उससे कविता में कैसे जान पड़ जाती है, यह हम जायसी से सीख सकते हैं।

सूर और तुलसी ने इस लोकसंस्कृति के आधार पर ग्राम जीवन के अनुपम चित्र दिये हैं। सीता के साथ ग्रामवधूटियों की सरस चर्चा, केवट और निषाद का प्रेम, मन्दिर में सीता द्वारा राम को प्रतिरूप में मॉंगना आदि का आधार यहॉं की जनसंस्कृति हैं। ब्रज की होली का कैसा सजीव वर्णन सूरदास ने किया है :

"हो हो ही हो लै लै बोलें। गोरस केरे माते डोलें॥
ब्रज के लरिकनि सङ्ग लिये जो लैं। घर घर केरे फरके खोलैं॥
गोपी ग्वाल मिले इकसारी। बचत नहीं बिनु दीन्हे गारी॥
आनि अचानक अँखिया मीचैं। चन्दन बदन ऊपर सीचैं॥

एक ओर दरबारी कविता की अतिशयोक्तियाँ हैं, वीर रस और शृङ्गार दोनों में जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये जाते हैं, अलङ्कारों की झड़ी लगादी जाती है, दूसरी तरफ यह सन्त-काव्य है जिसका झुकाव यथार्थवाद की ओर है। यह काव्य जनता के रीति रिवाज, उनके त्यौहार और आनन्दोत्सव, उनकी सुख और सौन्दर्य की कामना ही प्रकट नहीं करता, वह जनता के दुख का भी प्रतिविम्ब है, वह जन-जीवन की अनेक समस्याओं को बहुत स्पष्टता से पाठकों के सामने रखता है। तुलसीदास ने कवितावली और विनयपत्रिका के अनेक पदों में अपनी व्यथा का वर्णन किया है। यह वर्णन काल्पनिक नहीं है, यह राम को धोखा देने के लिए नहीं किया गया। तुलसी ने स्वयं कष्ट नहीं सहे थे वरन् सारे देश को कष्ट सहते देखा था, इसीलिए "खेती न किसान को भिखारी को न भीख बनि" आदि पंक्तियाँ लिखी थीं, इसी लिए कलियुग में लोगों के बिना अन्न मरने की बात लिखी थी। तुलसी की महत्ता का सबसे बड़ा कारण यह है कि मध्यकालीन कवियों में वह जनता की वेदना को सबसे ज्यादा समझते थे।

जनता में सबसे पीडित वर्ग स्त्रियों और अछूतों का था। इसलिए इनकी ओर तुलसी जैसे कवि की सहानुभूति होना स्वाभाविक था। तुलसी ही ने लिखा था—

"कत विधि सृजी नारि जग माही। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं॥"

तुलसी ने ही एक स्त्री शबरी को यह अधिकार दिया था कि वह अपने जूठे बेर राम को खिलाये। निषाद को ही इतना भाग्यशाली उन्होंने समझा था कि राम उसे भरत के समान प्यार करते। नारी-समाज और शूद्रों के बारे में तुलसीदास के विचार जानने के लिए उनके चरित्र-चित्रण पर ध्यान देना आवश्यक है; इसके सिवा उनके समूचे

ग्रन्थों को पढ़ने पर कोई धारणा बनानी चाहिए। स्वयं तुलसी को अपने जीवन में जातिप्रथा के ठेकेदारों का कोपभाजन बनना पड़ा था। इसी-लिए उन्होंने लिखा था—"धूत कहो, अवधूत कहो रजपूत कहो, जुलहा कहो कोऊ।" तुलसी के राम भक्तों को मुक्ति देते समय जाति-पाँति का विचार नहीं करते। जाति पाँति पर निर्भर धर्मशास्त्र एक ओर हैं, तुलसी की भक्ति, जो सभी के लिए मुक्ति का द्वार खोलती है, दूसरी ओर है। कहते हैं :

"कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौं बाजपेयी।"

सन्त काव्य में जनता के दुखदर्द का ही चित्रण नहीं है, उसमें जनता का दबा हुआ आक्रोश भी फूट पड़ा है। तुलसी की उपर्युक्त पंक्ति में उनका व्यंग्य स्पष्ट है। कबीर ने धर्मध्वजियों को वह चुन-चुन कर सुनायी हैं जैसी संपति हीन वर्ग ही सुना सकते है। संत-साहित्य में व्यंग्य-पूर्ण रचनाओं का विशेष स्थान है; ये रचनाएँ सामन्तों और धर्माधिकारियों को लक्ष्य करके जनता का रोष प्रकट करती हैं। तुलसी ने प्रजापीड़क सामन्तों को शाप देते हुए लिखा है :

"जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।"

और भी—

"राज करत बिनु काज ही, सजहिं कुसाज कुठाट।
तुलसी ते दककंध ज्यों, जैहैं बारह बाट॥"

तुलसी की यह विशेषता है कि उन्होंने अन्याय का सक्रिय विरोध करने के लिए राम का आदर्श चरित्र रखा। इससे जनता में आशा का संचार हुआ; उसने मर्यादा पुरुषोत्तम में एक आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही भाई और मित्र आदि ही नहीं देखा, उसने राम में अन्याय से युद्ध करने वाला धनुर्धर योद्धा भी देखा। एक जो किंवदन्ती प्रचलित है कि बाँसुरी वाले कृष्ण से तुलसी ने कहा था कि माथा तब झुकेगा जब हाथ में धनुषबाण लोगे वह इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। शताब्दियों तक सामन्तों ने जनता को निरस्त्र करके अपने काबू में बनाये रखने की कोशिश की थी लेकिन जनता के हृदय से सक्रिय प्रति-

रोध वाला भाव—बाल्मीकि और व्यास का रचा हुआ संस्कार न मिटा, न मिटा। संत कवियों ने अपने समय का जनवादी साहित्य रचते हुए उसी संस्कार को फिर पल्लवित किया। इसीलिए तुलसी के राम अन्यायी के सामने कष्ट सहकर उसका हृदय-परिवर्तन करने यानी उससे समझौता करने का प्रयत्न नहीं करते। उनकी घोषणा है :

"जो रन हमैं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रावण को परास्त करने वाले काल सदृश राम का उदाहरण देकर भारत में तोल्स्तोयवाद का उचित ही खण्डन किया था। सन्त-साहित्य में मानवमात्र की समानत की भावना एक मूल सूत्र की तरह विद्यमान है। विभिन्न धर्मों, जातियों और वर्णों में बँटे हुए समाज में निर्धन जनता यह विश्वास प्रकट किये बिना न रह सकी कि सभी मनुष्य भाई-भाई हैं। सन्तसाहित्य शोषण से त्रस्त जनता की इस आकाँक्षा को प्रकट करता है कि ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें ऊँच नीच का भेद न हो, जिसमें सतानेवाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज व्यवस्था का आधार प्रेम हो, जहाँ लोग रोग और अकाल से न मरें, जहाँ स्त्रियों और पुरुषों के लिए एक से नियम हों। तुलसी का राम राज्य ऐसे ही सुखी समाज का चित्र है। इस तरह के चित्र मध्यकालीन निर्धन किसानों, जुलाहों, कारीगरों आदि की साम्यभावना प्रकट करते हैं, एक वर्गहीन सुखी समाज का स्वप्न प्रकट करते हैं, ये चित्र सिद्ध करते हैं कि भारतीय जनता में वर्गहीन समाज की आकाँक्षा बहुत पुरानी है, वह आज वैज्ञानिक आधार पर सङ्गठन और एकता के बल पर चरितार्थ होना चाहती हैं।

सन्त-साहित्य की सामाजिक विषयवस्तु का यह ऐतिहासिक महत्व है कि वह जीवन की स्वीकृति का साहित्य है, उसमें जनता का हास और उल्लास है, जनता का क्रोध और आवेश है, एक सुखी समाज की आकाँक्षा है, उसमें अन्याय का सक्रिय विरोध करने वाले वीरों के चित्र हैं। इस विषयवस्तु ने दुख के दिनों में जनता का मनोबल कायम रखा, जीवन में उसकी आस्था बनी रहने दी।

सन्त साहित्य का कलात्मक महत्व क्या है ?

सन्तसाहित्य की कला निरुद्देश्य नहीं है। यह साहित्य केवल मनोरञ्जन के लिए नहीं लिखा गया। ध्वनि, रस, वक्रोक्ति और अलङ्कारों से "सहृदय" सामन्तों का मनोरञ्जन करने के बदले इस साहित्य का मूल मंत्र है :

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई ॥"

जनहित की भावना उसकी मुख्य प्रेरणा है। जनता का यह हित आध्यात्मिक भी है, यह दूसरी बात है। यह उन असङ्गतियों का परिणाम है जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। लेकिन साहित्य सोद्देश्य ही यह निर्विवाद सत्य है।

सन्तसाहित्य की कला अत्यन्त लोकप्रिय है। संत कवियों ने अपनी रचनाओं को इस तरह सँवारा कि वे करोड़ों जनता का कण्ठहार बन गईं। ऐसे लोकप्रिय साहित्य की रचना और—प्रेस, रेडियो आदि के अभाव में—उसका प्रसार एक अपूर्व सफलता है। इससे पता चलता है कि लोकप्रियता और उच्चकोटि की कला में बैर नहीं है।

सन्तों ने अधिकतर भजन रचे जो जनता में गाये जाते थे और आज भी गाये जाते हैं। सङ्गीत और काव्य का यह समन्वय उनकी लोकप्रियता का एक कारण था। रीतिकालीन कवियों ने कवित्त, सवैया और दोहे तक ही बहुधा अपने को सीमित रखा। सन्त कवियों ने अपने पदों में तरह-तरह की गति, ताल और लय का परिचय दिया। कुछ आचार्य ऐसे भी हुए थे जिन्होंने दो दो अक्षरों की पंक्तियाँ लिखकर अपना पिंगल ज्ञान प्रदर्शित किया था। केशवदास ऐसे ही आचार्य थे। उनकी रामचन्द्रिका छन्दों का अजायब घर बन गयी। इस तरह का पांडित्य-प्रदर्शन सन्तों का उद्देश्य न था।

जायसी और तुलसी जैसे कवियों ने चौपाई छन्द में भाषा का वह प्रवाह दिखाया कि सवैया कवित्त वाले मुँह देखते रह गये। चौपाई हिन्दी का छोटा-सा सीधा-सादा छन्द है जिसे ठाट बाट का कोई गुमान नहीं। इसमें भी यति-परिवर्तन करके, स्वरों के उतार-चढ़ाव से तुलसी

ने विविध और विचित्र ध्वनिसौन्दर्य पैदा किया। सीधी गति यह है :

"तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥"

दूसरी गति—उदात्त भाव व्यञ्जना के लिए—यह है :

"बुध बिश्राम सकल जन रञ्जनि। रामकथा कलिकलुषबिभंजनि॥"

अन्त में लघुगुरु देकर तीसरी तरह की गतिः

"मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअङ्क भाल के॥"

इत्यादि।

दोहे लिखने में भी तुलसी ने इसी ध्वनि सौन्दर्य का परिचय दिया है। उनके कवित्त, सवैया, सोरठे बरवै आदि छन्दों पर उनका असाधारण अधिकार प्रकट करते हैं।

सन्त कवियों ने अलङ्कारों का प्रयोग किया है लेकिन प्रदर्शन के लिए नहीं, भावोत्कर्ष के लिये। तुलसी ने एक एक दोहे में जो रूपक बाँध दिये हैं, वे अपनी चित्रमयता में अनुपम हैं।

उदित उदयगिरि मञ्च पर, रघुबर बाल पतङ्ग।
बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृङ्ग॥

संत कवियों ने प्रबन्ध काव्य लिखे। 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' जैसे काव्य कथा-विन्यास, चरित्र-चित्रण आदि में वह कौशल प्रकट करते हैं जो "रामचन्द्रिका" लिखने वालों को सुलभ न हुआ। सन्त-साहित्य की मुख्य-धारा गीति-काव्य है। भावुकता, आत्मनिवेदन, गेयता—ये गुण उस कविता में मुख्य हैं। "लिरिक" के ये गुण पदों ही में नहीं हैं, वे 'रामचरितमानस' जैसे प्रबन्ध काव्य में भी हैं वे। तुलसी के सवैया कवित्तों और दोहों में भी हैं। चातक पर लिखे हुए तुलसी के दोहे सब दोहा लिखने वालों को मात देते हैं। रीतिकालीन कवियों ने अपने दोहों, कवित्तों में बौद्धिक चमत्कार ज्यादा दिखाया, सहृदयता कम। सन्त कवियों में चमत्कारवाद कहीं कहीं अपवाद रूप में मिल जायगा, मूलतः उनका काव्य-स्रोत मानवीय सहानुभूति और सहृदयता है। "लिरिक" कविता का एक गुण रचना पर कवि के व्यक्तित्व की छाप है। सन्त साहित्य में कवि का व्यक्तित्व खूब उभर कर आया।

हमारे सामने कबीर एक निर्भीक और उद्दंड आलोचक के रूप में आते हैं तो सूर एक आत्मविभोर गायक के रूप में। तुलसी ने अपने बारे में सबसे अधिक लिखा है। उनके व्यक्तित्व में करुणा और क्रोध, शोक और क्षोभ, व्यथा और आत्मविश्वास का अद्भुत संमिश्रण है। सामन्ती समाज में जहाँ व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं, काव्य में यह व्यक्तित्व का प्रकाशन स्वयं एक सामन्त-विरोधी मूल्य है।

इस तरह विविध छन्दों और अलङ्कारों में, प्रबन्ध और गीतिकाव्य में, कला के नये रूपों में संत कवि दरबारी कवियों से आगे रहे। अपनी सरस और लोकप्रिय कला द्वारा उन्होंने जनता की रुचि को सुसंस्कृत किया, उसे कलात्मक आनन्द दिया और उसके सामाजिक संस्कारों का परिष्कार किया।

सन्त-साहित्य ने सिद्ध कर दिया कि जनसाधारण में कलात्मक विकास की कितनी शक्ति छिपी हुई है। सन्त-साहित्य ने सिद्ध कर दिया कि संस्कृति पर सामन्तों और पुरोहितों का इजारा टूट गया है। संत साहित्य ने सिद्ध कर दिया कि यहाँ की जनसंस्कृति इतनी समर्थ है कि विभिन्न देशों और धर्मों के लोगों को अपने में मिला सकती है।

सन्त-साहित्य सिद्ध करता है कि अँगरेजों के आने पर ही यहाँ सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का सिलसिला नहीं शुरू हुआ। अँगरेजों के आने से पहले यहाँ के सामाजिक जीवन में व्यापक परिवर्तन हो रहे थे। उन सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन किये बिना सन्त साहित्य का मर्म पूरी तरह समझ में नहीं आ सकता। संत-साहित्य सिद्ध करता है कि अँगरेजों के आने से पहले यहाँ के लोग असभ्य न थे, उन्होंने १६-१७ वीं सदियों में यहाँ जो साहित्य रचा, वह तत्कालीन यूरोप के साहित्य से किसी तरह घट कर नहीं है।

सन्त-साहित्य ने भारतीय जनता के अगले विकास पर व्यापक प्रभाव डाला। १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब भारतेन्दु ने एक नये राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य की नींव डाली, तब उनकी दृष्टि स्वभावतः

सन्त साहित्य की ओर गयी। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के उत्पीड़न और उनकी पतनोन्मुख संस्कृति के विरुद्ध भारतीय लेखक जब भी राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य रचने की बात सोचेंगे, उन्हें सन्त साहित्य से बराबर प्रेरणा मिलेगी, उसमें सीखने-समझने के लिए बहुत-सी सामग्री मिलेगी।

भारत में जब नये शोषणमुक्त समाज की रचना होगी तब सन्त-साहित्य का महत्त्व और भी निखर कर सामने आयेगा। यहाँ के अन्ध-विश्वासों को लोग वैसे ही चुनौती देंगे जैसे कबीर ने अपने समय में, अपने ढग से, चुनौती दी थी :

"जो कासी तन तजै कबीरा, रामहिं कौन निहोरा।"

भारतीय जनता जिस नयी वैज्ञानिक संस्कृति का विकास करेगी, उसका मूल सूत्र कथनी और करनी की वह एकता होगी जिसकी ओर कबीर ने संकेत क्या था। वर्गयुक्त समाज-व्यवस्था के शासक सदा ही कहते कुछ रहे हैं, करते कुछ और रहे हैं। कबीर ने कर्म और वचन की कसौटी पर ही अनेक मत-मतान्तरों और विश्वासों को परखकर उनकी आलोचना की थी। यह कसौटी आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कबीर के समय।

सन्त-साहित्य की सीमाएँ उस बीते हुए युग के साथ छूट जायँगी। उसके प्रगतिशील तत्त्व भावी संस्कृति के प्रासाद में अनमोल रत्नों जैसे जड़े रहेंगे।

साहित्य में लोक-जीवन की प्रतिष्ठा और स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद

यह संसार मिथ्या है, सत्य इस भौतिक जगत के परे है,—यह प्रचार पूर्व और पश्चिम में शताब्दियों से होता चला आ रहा है। बीसवीं सदी में भारतीय संस्कृत से इसका सम्बन्ध विशेष रूप से जोड़-कर लोक-जीवन को सुखी बनाने के प्रयत्नों का विरोध करने के लिए इस तरह के प्रचार से सहायता ली गयी है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय जनता के सङ्गठित होते हुए प्रतिरोध का मुकाबला करने के लिए निहतस्वार्थों ने यह राग खूब अलापा है और भारतीय संस्कृति का ठेका लेकर जनता का पक्ष लेने वालों को खूब कोसा है। उनका प्रचार कितना निराधार है, इसका एक समर्थ प्रमाण स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद का साहित्य है। प्रसाद जी भारतीय संस्कृति से प्रेम करते थे, इस बारे में किसी को दुविधा नहीं है। लेकिन प्रसाद-साहित्य में जिस सत्य का उद्घाटन किया गया है, उसका सामना करने का साहस आज निहित स्वार्थों के प्रतिनिधियों में नहीं है। वे या तो उसकी ओर से उदासीन रह सकते हैं, या उसे "गम्भीर" और रहस्यात्मक बनाकर उसकी मूल स्थापनाओं पर पर्दा डालने का प्रयत्न कर सकते हैं। इसलिए प्रसाद-साहित्य की स्थापनाओं का मूल्याङ्कन करना एक सामयिक कर्तव्य होगा। एक लेख में समूचे प्रसाद-साहित्य की न तो आलोचना सम्भव है, न वैसी आलोचना करना इस लेख का उद्देश्य है। प्रसाद जी इस संसार को सत्य मानते थे, या मिथ्या, साहित्य में जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य था, वह इस संसार में था, या इससे परे, भारतीय समाज में वह वर्गसङ्घर्ष का अस्तित्व स्वीकार करते थे या

अस्वीकार, वे लोक-जीवन से उदासीन थे, या उसे सुखमय बनाना चाहते थे, वहाँ इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देना यथेष्ट होगा।

× × ×

प्रसाद जी छायावाद के प्रमुख कवियों में से हैं और वह रहस्यवाद के समर्थक भी हैं। उनमें और दूसरे रहस्यवादी कवियों में एक अन्तर है। वह अन्तर इस भौतिक जीवन के प्रति दृष्टिकोण में है। "यथार्थ-वाद और छायावाद" नाम के निबन्ध में उन्होंने इस धारणा का खंडन किया है कि "प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है।" (काव्य और कला तथा अन्य निबंध, चौथा संस्करण, पृष्ठ १२८)। इस सिद्धान्त को उन्होंने "भ्रामक" कहा है। "काव्य और कला" नाम के निबन्ध में उन्होंने कुछ ग्रीक विचारकों की इस धारणा का खण्डन किया है कि "मानव-स्वभाव सौन्दर्यानुभूति के द्वारा विकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है।" (उप० पृ० ३५)। स्थूल और सूक्ष्म का यह भेद, जड़ और चेतन, वास्तविक और काल्पनिकका भेद है। प्रसादजी इस द्वैतवाद को नहीं मानते। आचार्य शुक्ल की तरह वह सौन्दर्य की निरपेक्ष अरूप सत्ता नहीं मानते। यूरोप के भाववादी विचारकों और प्रसादजी में यह मौलिक भेद है। भाववादी लेखक सौन्दर्य को भौतिक जगत् से परे, एक अरूप सत्ता मानकर कला में उसकी छाया प्रतिष्ठित करने या संसार में उसकी छाया देखने की बात करते हैं। प्रसाद जी का कहना है, "सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता।" (उप० पृ० ३५)।

ईसाई धर्म की ओर संकेत करके उन्होंने इस बात की व्याख्या की है कि कुछ लोग "कलुषित और मूर्त संसार निम्नकोटि में, अमूर्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे और उच्च कोटि में" क्यों समझते हैं। (उप० पृ० ३५)। कहना न होगा कि प्रसाद जी के लिए न तो सत्य इस संसार के परे है और न मनुष्य का सुख। सत्य कहाँ है, इसकी व्याख्या करते हुए प्रसाद जी ने यह सार्थक वाक्य लिखा है: "वह सत्य प्राकृ-

तिक विभूतियों में जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती हैं, ओत-प्रोत है।" (उप० पृ० ३७)। सत्य प्रकृति ही में है। उसी में सौन्दर्य है जो अरूप नहीं है। भौतिक जगत् सत्य है, इसलिये अगोचर सत्य और अरूप सौन्दर्य निराधार कल्पनामात्र है।

अध्यात्मवादी लेखक भौतिकवादियों पर यह दोष लगाते हैं कि वे जड़ प्रकृति में विश्वास करते हैं, इसलिए उनका दर्शन एकाङ्गी है। वास्तव में एकाङ्गी दर्शन अध्यात्मवादियों का है जो जड़ और चेतन का नकली भेद करते हैं। भूत से परे चेतना की सत्ता नहीं है, चेतना भूत का ही गुण है। इसलिए भूत की सत्ता मानने का अर्थ चेतना को अस्वीकार करना नहीं होता। प्रसाद जी अद्वैतवादी हैं लेकिन वेदान्ती नहीं। उनका अद्वैतवाद जड़ और चेतन के द्वैत को अस्वीकार करता है, प्रकृति को माया कह कर या शून्य को सत्य मानकर वह यथार्थ जीवन को अस्वीकार नहीं करते। "कामायनी" के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा है :

"एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।"

"रहस्यवाद" नाम के निबन्ध में उन्होंने शून्यवाद और मायावाद का दृढ़ता से विरोध किया है। उन्होंने भारतीय चिन्तन में दो धाराओं का उल्लेख किया है—एक है आनन्दवादी और दूसरी दुःखवादी। प्रसाद जी के अनुसार दुःखवाद विवेक और तर्क का परिणाम है, आनन्दवाद सहृदयता का। उन्होंने "कामायनी" में विवेक और सहृदयता का समन्वय किया है। वास्तव में उनका विरोध एक विशेष प्रकार के विवेक से ही है; उन्होंने उस सहृदयता का भी विरोध किया है जो उच्छृङ्खल भोगवाद का रूप ले लेती है। तीर्थङ्करों के विवेक का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि उनका बुद्धिवाद "दार्शनिकों की उस विचारधारा को अभिव्यक्त कर सका जिसमें संसार दुःखमय माना गया और दुःख से छुटकारा ही परम पुरुषार्थ समझा गया। दुःखनिवृत्ति दुःखवाद का ही परिणाम है। फिर तो विवेक की मात्रा यहाँ तक बढ़ी

कि बुद्धिवादी अपरिग्रही, नग्न दिगम्बर, पानी गरम करके पीने वाले और मुंह पर कपड़ा बाँधकर चलने वाले हुए।" (उप० पृष्ठ ५१)।

वेदान्तियों के मायावाद के बारे में प्रसाद जी कहते हैं, "पौराणिक धर्म का दार्शनिक स्वरूप हुआ मायावाद। मायावाद बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के मिश्र उपकरणों से सङ्गठित हुआ था। इसीलिये जगत् को मिथ्या, दुःखमय मान कर सच्चिदानन्द की जगत् से परे कल्पना हुई।" (उप० पृ० ६०)। मायावाद और शून्यवाद में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका उल्लेख भी प्रसाद जी ने किया है। उनके शब्दों में "वह पहले के लोगों से भी छिपा नहीं रहा।" (उप० पृ० ६१)।

इस तरह चाहे बौद्धों का तर्क हो, चाहे वेदान्तियों का योग, तप या समाधि-ज्ञान हो, जो भी संसार को मिथ्या कहता है, प्रसादजी उसका विरोध करते हैं। सन्त कवियों में जहाँ उन्हें मायावाद दिखा है, उन्होंने उसकी आलोचना की है।

मायावाद और शून्यवाद के विरोध में छान्दोग्य आदि उपनिषदों और शैवागमों का हवाला देते हुए प्रसाद जी अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए कहते हैं: "संसार को मिथ्या मानकर असम्भव कल्पना के पीछे भटकना नहीं पड़ता था। दुःखवाद से उत्पन्न सन्यास और संसार से विराग की आवश्यकता न थी।" (उप० पृ० ५७)।

भौतिकवाद को नित्य कोसने वाले सज्जन "असम्भव कल्पना"— इस टुकड़े पर ध्यान दें। छायावाद के श्रेष्ठ कवि पंत जी ने इधर की रचनाओं में भारतीयता के नाम पर भौतिकवाद को काफी कोसा है। यही नहीं, अध्यात्मवाद को भारतीय संस्कृति की मूल निधि कहकर जनता को भौतिक जीवन के सङ्घर्षों से विमुख होने की सलाह भी दी है। इसके विपरीत प्रसाद जी संसार को मिथ्या मानने वालों से अनुरोध करते हैं कि वे "असम्भव कल्पना" के पीछे न दौड़ें।

एक दिलचस्प बात यह है कि प्रसाद जी ने एकेश्वरवाद को असुर दर्शन कहा है। उसके विरोध में आत्मवाद की चर्चा की है। इसका कारण क्या है? वेदान्त के अनुसार ब्रह्म और आत्मा का भेद माया है। प्रसाद

जी न तो वेदान्तियों के ब्रह्म में विश्वास करते हैं, न उनकी आत्मा में। उनके लिए आत्मा मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय है। यह स्थापना भी उन्होंने बृहदारण्यक के आधार पर की है। वे आत्मा की तीन क्रियाएँ मानते हैं, मनन शक्ति, वाक् शक्ति और प्राण शक्ति। इसलिए उनके आत्मवाद से वेदान्तियों की आत्मा या ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका आत्मवाद मनुष्य के चिन्तन, भाषण और उसकी सजीवता का ही दूसरा नाम है। आत्मवाद और एकेश्वरवाद में भेद करते हुए प्रसाद जी कहते हैं—"आत्मा में आनन्द-भोग का भारतीय आर्यों ने अधिक आदर किया। उधर असुर के अनुयायी आर्य एकेश्वरवाद और विवेक के प्रतिष्ठापक हुए।" (उप० पृ० ५७)।

राम मनुष्य हैं या लोकातीत हैं, इस विवेचन में उलझने वाली काव्य-धारा की चर्चा करके प्रसाद जी कहते हैं—"मानव ईश्वर से भिन्न नहीं है, यह बोध, यह रसानुभूति विवृत नहीं हो सकी।" (उप० पृ० ११६)। जो रसानुभूति वहाँ विवृत न हो सकी थी, उसे प्रसाद जी ने 'कामायनी' में यों प्रकट किया है—

> "अपने दुख-सुख से पुलकित
> यह भूत विश्व सचराचर;
> चिति का विराट् वपु मंगल
> यह सत्य सतत चिर सुन्दर।"

सत्य क्या है? सुन्दर क्या है? चिति का विराट् वपु यह मूर्त विश्व ही सत्य और सुन्दर है। यहाँ न मायावाद है, न शून्यवाद है; विश्व की मूर्त सत्ता की घोषणा है। लेकिन है यह भी भारतीय संस्कृति।

[२]

मूर्त विश्व की सबसे महिमामयी मूर्ति मानव है। प्रसाद जी का मानववाद उनके अद्वैतवाद का सहज विकसित सामाजिक रूप है। 'कामायनी' की भूमिका में उन्होंने मनु को "देवों से विलक्षण, मानवों की संस्कृति" प्रतिष्ठित करने वाला कहा है। 'कामायनी' की विषयवस्तु अध्यात्म-चिन्तन न होकर इस भौतिक जगत् के मानव की ही संस्कृति

है। कामायनी अशरीरी भावसौंदर्य की प्रतीक न होकर कामगोत्रजा है। "श्रद्धा काम गोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है।" कामायनी को निष्काम गोत्र की बनाना उसे अगोचर सत्य की प्रतीक मानना प्रसाद जी की स्पष्ट स्थापना का उल्लंघन करना होगा। काम शब्द की व्याख्या उनके रहस्यवाद नाम के निबन्ध में पढ़ी जा सकती है। वहाँ उन्होंने कहा है कि "काम का धर्म में अथवा सृष्टि के उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है-कामस्तदग्ने समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं य दासीत्। यह काम प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप और प्रेम से वह शब्द अधिक व्यापक भी है।" मनुष्य की सहृदयता, उसकी लोकमंगल की भावना का नाम ही कामायनी है—

"वह कामायनी जगत् की
मंगल कामना अकेली।"

यह मंगल कामना संसार को दुःखमय कह कर उससे भागने में चरितार्थ नहीं होती। मनु संसार को दुःखमय कह कर जब उससे भागते हैं, तब कामायनी उन्हें रास्ते पर लाती है। मनु कभी तो वैराग्य और तप की राह अपनाते हैं, कभी उच्छृंखल भोगवाद की ओर चल पड़ते हैं। वास्तव में वैराग्य और भोगवाद दोनों का ही उद्गम एक है— संसार को क्षणभंगुर मानना। कोई क्षणभंगुरता के विचार से वैरागी हो जाता है, कोई क्षण के आनन्द में ही सब कुछ भूल जाना चाहता है। अक्सर आज जो भोगवादी है, कल वही वैरागी भी बन जाता है। प्रसाद जी ने ये दोनों व्यापार एक ही व्यक्ति में दिखाकर उनके एक ही उद्गम की ओर संकेत किया है।

कामायनी 'तपस्वी' मनु के दुःखवाद का खण्डन करते हुए कहती है—

"दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज

भविष्यत् से बनकर अनजान।"

और भी—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य

करुण यह क्षणिक दीन अवसाद।"

वह मनु को दया, ममता और विश्वास देती है, संसृति की बेल को पुष्पित और पल्लवित करने को कहती है, उनसे "शक्तिशाली हो, विजयी बनो" का जयगान सुनने को कहती है। वह चाहती है कि मानवता की कीर्ति फैले, वह प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजयी हो—

"जलधि के फूटें कितने उत्स

द्वीप, कच्छप डूबे उतरायँ;

किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति

अभ्युदय का कर रही उपाय।

मनु श्रद्धा को छोड़कर इड़ा से प्रेम करने लगते हैं। इड़ा विवेक वादियों के तर्कजाल का प्रतीक है। उसके सौन्दर्य के आगे गर्भ में नया जीवन पालने वाली श्रद्धा को मनु भूल जाते हैं। प्रसाद जी ने श्रद्धा के मातृत्व का सुन्दर चित्रण करके अपनी कला द्वारा इड़ा के सौन्दर्य को फीका दिखा दिया है।

"केतकी गर्भ सा पीला मुंह

आँखों में आलस भरा स्नेह;

कुछ कृशता नई लजीली थी

कंपित लतिका सी लिये देह।"

गर्भवती श्रद्धा, और आगे चलकर उसके पुत्र, के वर्णन में प्रसाद जी ने उसी मानव-प्रेम का परिचय दिया है जिसके लिए सूर और तुलसी भारतीय जनता का कण्ठ-हार हैं।

मनु के उच्छृंखल भोगवाद का परिणाम यह होता है कि प्रजा विद्रोह कर देती है। मनु इड़ा पर पूर्ण अधिकार चाहते हैं। प्रजा के सेवक न रह कर वह उसके कठोर शासक बन गये हैं। वह उसे दण्ड-भय से दबाना चाहते हैं लेकिन वह दबती नहीं है। प्रजा के विद्रोह का

कारण क्या है, यह ध्यान देने योग्य है। जनता कहती है—

"प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी !
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी !
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है ?"

प्रसाद जी ने जनता में यह चेतना दिखायी है कि वह शोषण-व्यापार समझती है, वह जानती है कि इड़ा पर अत्याचार करने वाला राजा जनता के बल पर ही जीता है। अपनी शक्ति पहचान कर वह गरज कर चुनौती देती है—

"ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?"

"स्वर्णधूलि" की एक कविता में पंतजी ने राजा के विरुद्ध प्रजा का विद्रोह दिखाकर उसे गाँधीवादी ढंग से शान्त करा दिया है और राजभवन की वंदना की है। इसके विपरीत प्रसाद जी ने श्रद्धा को बीच में लाकर, उससे बिचवानी का काम करा के या उसकी बलि देकर, राजा-प्रजा में मेल कराने का प्रयत्न नहीं किया। प्रजा मनु को घायल कर देती है और उनसे राज भवन छोड़कर भागते ही बन पड़ता है।

मनु और प्रजा का संघर्ष ही यह सूचित नहीं करता कि प्रसाद जी के अनुसार भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष था। उन्होंने वर्गों का निर्माण और उनके संघर्ष का स्पष्ट उल्लेख भी किया है :

"अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।"

और भी,

"श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें;
नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें;
सब पिये मत्त लालसा घूँट,
मेरा साहस अब गया छूट।"

प्रसाद जी की स्थापना उन लोगों का खंडन करती है जो कहते हैं कि भारतीय समाज का विकास निराले ढंग से हुआ है; वर्ग-संघर्ष यूरोप में हुआ हो तो हुआ हो, भारत से उसका क्या संबंध वास्तव में जहाँ श्रमका विभाजन हुआ है, वहाँ वर्ग भी बने हैं, वर्गों के रहने पर उनमें परस्पर संघर्ष भी हुआ है और यह संघर्ष विरोधी वर्गों में शान्ति कायम करके खत्म नहीं किया जा सकता वरन् शोषण मिटा-कर और मानव-श्रम को मानव हित के लिए संगठित करके ही दूर किया जा सकता है।

गान्धीवादी वर्ग-शान्ति के विपरीत प्रसाद जी एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ सभी समान और स्वतन्त्र हों। इड़ा जब मनु से मिलने जाती है, तब कहती है,

"हम एक कुटम्ब बना कर यात्रा करते हैं आये।"

और मनु

बोले "देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी—हम केवल एक हमी हैं;

× × ×

शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है;
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।

\+ + +

सबकी सेवा न पराई वह अपनी सुख-संसृति है;

× × ×

मानव कह रे! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।"

यहाँ वर्ग नहीं हैं, न वर्गों के बीच शान्ति स्थापित की गयी है। यहाँ समतल जीवन-वसुधा पर सब की सेवा में सुखी मनुष्य है। यहाँ धर्म, वर्ग और जाति की दीवारें नहीं हैं। मनुष्य अपने विश्व-नीड़ में प्रतिष्ठित है।

वर्ग-सङ्घर्ष का कैसे अन्त होगा, प्रसाद जी के सामने यह स्पष्ट नहीं

था। वरन्तु वर्ग हैं, वर्ग-सङ्घर्ष है, इस सङ्घर्ष का अन्त करके वर्गहीन समाज में मनुष्य को प्रतिष्ठा होनी चाहिये, यह सब उनके सामने स्पष्ट था।

आचार्य शुक्ल ने "कामायनी" की चर्चा में इस अस्पष्ट साम्यवादी आकांक्षा की ओर संकेत किया है। "वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज दो-तीन जगह है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० १९९७, पृष्ठ ८३५)।

[३]

जो गूंज प्रसाद में दबी-सी सुनायी दी थी, वह आज और मुखर हो उठी है। विश्व-संस्कृति का विकास वर्गहीन समाज की प्रतिष्ठा की ओर हो रहा है। विभिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियाँ अपनी अलग-अलग विशेषताओं के साथ इसी लक्ष्य की ओर बढ़ रही हैं। इस प्रगति को रोकने के लिये तरह-तरह के नारे लगाये जा रहे हैं—व्यक्ति की स्वाधीनता खतरे में है, भारतीय संस्कृति का नाश हो जायगा, रूस आकर खा जायगा, इत्यादि। प्रसाद—साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति का सहज विकास वर्गहीन समाज में शोषण मुक्त मानव की प्रतिष्ठा की ओर है।

जिस समय प्रसाद जी ने अपना साहित्य रचा था, देश के जन-आन्दोलन की बागडोर पूंजीवादी नेताओं के हाथ में थी। मजदूर-वर्ग असङ्गठित था और राष्ट्रीय आन्दोलन में उसकी क्रान्तिकारी भूमिका स्पष्ट न हुई थी। इसलिये प्रसाद जी के साहित्य में कहीं-कहीं भाववाद (आइडियलिज़म) की छाप हो तो आश्चर्य नहीं। प्रसाद जी भौतिक जगत् को सत्य मानते हैं लेकिन उनके लिए चेतना भूत या पदार्थ का ही एक गुण नहीं है जैसे कि वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों के लिए है। यह मूर्त विश्व 'चिति का विराट्वपु मङ्गल' है; इस स्थापना में चिति की स्वतन्त्र और अखण्ड सत्ता की ओर संकेत है। 'काव्य और कला' नाम के निबन्ध में सत्य की शाश्वत सत्ता घोषित करते हुए लिखा है: 'सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत

चेतनता है या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।' लेकिन इसी निबन्ध में प्रसाद जी ने सत्य को परिवर्तनशील प्राकृतिक विभूतियों में ओत-प्रोत भी बतलाया है। यदि सत्य परिवर्तनशील प्रकृति में है तो वह प्रकृति से भिन्न अपरिवर्तनशील शाश्वत चेतनता नहीं हो सकता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के लिये प्रकृति परिवर्तनशील ही नहीं, विकासमान है। प्रसाद जी के लिए वह परिवर्तनशील तो है लेकिन विकासमान नहीं। इसी दार्शनिक स्थापना के अनुरूप सामाजिक क्षेत्र में प्रसाद जी के लिए वर्गों की भूमिका स्पष्ट नहीं है, यह स्पष्ट नहीं हैं कि श्रमिक वर्ग अपने नेतृत्वमें शेष जनता का सङ्गठन करके मुक्त मानव-समाज की रचना कर सकता है। इसी कारण प्रसाद जी मनु के नगर में नये समाज की स्थापना नहीं दिखाते वरन् उसका अस्पष्ट चित्र कैलास पर दिखाते हैं। प्रसादजी के चिन्तन की ये सीमाएँ उनके युग की सीमाएँ हैं।

इन सीमाओं के बावजूद यह समझना भ्रम होगा कि प्रसाद जी का चिन्तन पूँजीपति वर्ग के साँस्कृतिक मार्ग गाँधीवाद पर चल रहा था। गाँधीवाद जहाँ जनता के क्रान्तिकारी उभार को दबाकर वर्ग-शान्ति और समझौते की राह पर चलता है, वहाँ प्रसाद जी वर्ग-शान्ति के बदले वर्गहीन समाज का आदर्श सामने रखते हैं। गाँधीवाद जहाँ प्राचीन भारतीय समाज में वर्ग-सङ्घर्ष अस्वीकार करता है, वहाँ प्रसाद जी ने राजा-प्रजा के रक्तमय सङ्घर्ष का चित्र खींचकर उसे स्वीकार किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि गाँधीवाद जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध की बात करता है, स्वयं कष्ट सह कर अन्यायी के हृदय-परिवर्तन की बात करता है, वहाँ प्रसाद जी ने सक्रिय प्रतिरोध का आदर्श रखा है, शस्त्र उठाकर आततायियों का विरोध करने का चित्र खींचा है।

"स्कन्दगुप्त" में प्रसाद जी ने दिखाया है कि हूणों के आक्रमण से त्रस्त और बिखरी हुई जनता में फिर से साहस-संचार करके स्कन्दगुप्त और उसके साथियों ने हूणों को समरभूमि में पराजित किया और उन्हें सिन्धु पार खदेड़ दिया। ब्रिटिश साम्राज्य से आक्रान्त देश में यह

नाटक लिख कर प्रसाद जी ने सामयिक राजनीति की भी एक गुत्थी सुलझायी थी। पर्णदत्त कहता है, "देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा !" पर्णदत्त कैसी भीख चाहता है? क्या भीख मागने से देश का उद्धार होगा? पर्णदत्त कहता है, "जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए; कोई देगा भीख में ?" पर्णदत्त की याचना के उत्तर में पहले स्कन्दगुप्त और फिर जनता में से बहुत से वीर देशरक्षा के लिए आगे आ जाते हैं। जनता का सङ्गठन करने में साहित्यकार अपनी विशेष भूमिका पूरी करते हैं। विजया महाकवि कालिदास से कहती है, "आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि शिरोमणि! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े एक बार वह उद्‌बोधन गीत गा दो कि भारतीय जनता अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जाय !" कालिदास काव्य से ही जनता को संगठित नहीं करते, वह स्त्रियों को घसीटने वाले अत्याचारी हूणों का तलवार उठाकर विरोध भी करते हैं। प्रसाद के श्रेष्ठ नाटक "स्कन्दगुप्त" के कालिदास महाकवि ही नहीं, वीरकवि भी हैं। हूणों को ललकारते हुए वह कहते हैं, "इन निरीहों के लिए प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरो ! स्त्रियों पर यह अत्याचार !!"

प्रसाद जी के लिए कलाकार सामाजिक संघर्ष में तटस्थ नहीं रहता। वह जनता और देश के प्रति सहानुभूति ही नहीं प्रकट करता, वह संघर्ष में भाग भी लेता है। और यह संघर्ष निष्क्रिय प्रतिरोध के मार्ग पर नहीं बढ़ता, उसका रास्ता सक्रिय प्रतिरोध का है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने अपने साहित्य में पूंजीवादी नेताओं की कार्यनीति को आदर्श नहीं माना।

आचार्य शुक्ल की तरह प्रसाद जी के लिए भी कला सोद्देश्य है। "नाटकों में रस का प्रयोग" नाम के निबंध में वह कहते हैं: "इसमें लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है।" उनकी कामा-

यनी "जगत् की मंगलकामना" है। यहाँ पूर्व और पश्चिम के शुद्ध कल्पनावादियों से उनकी भिन्नता स्पष्ट दिखायी देती है। जिस तरह आचार्य शुक्ल ने अध्यात्मवाद को साहित्य से बाहर कर देने की घोषणा की थी, उसी तरह प्रसाद ने दुःखवाद, निराशावाद, भोगवाद से साहित्य को मुक्त रखने का आह्वान किया है। उपर्युक्त निबन्ध में वह दुःखवाद के लिए कहते हैं, "साहित्य में उसे स्वीकार नहीं किया गया।" आचार्य शुक्ल की तरह प्रसाद केवल माधुर्य के उपासक नहीं हैं। भीषणता और कमनीयता की द्वन्द्वात्मक एकता भी संभव है। "कामायनी" में वे कहते हैं—

> नर्तन में निरत प्रकृति गलकर,
> उस कान्ति-सिन्धु में घुल मिल कर,
> अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
> कमनीय बना था भीषणतर।

प्रसाद जी के लिए साहित्य सोद्देश्य है, इसीलिए साहित्य में मूल-वस्तु अनुभूति है, न कि अभिव्यक्ति। सूर और तुलसी की तुलना करते हुए वह कहते हैं : "जहाँ अत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है।....अभिव्यक्ति सहृदयों के लिये अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति।" (काव्य और कला, पृ० ४५)। पूर्व और पश्चिम के अभिव्यंजनावादियों से प्रसाद जी का यह मौलिक मतभेद है। साहित्य अभिव्यंजना नहीं है; इसकी श्रेष्ठता मूलतः बात कहने के ढंग में नहीं है वरन् बात में है। भाषा और विचारों का सम्बन्ध रूप और विषय वस्तु का है। "जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है।" (उप० पृ० ४१)। भाववादी लेखक जहाँ भाषा से स्वतन्त्र विचारों की निराकार सत्ता मानते हैं, वहाँ प्रसाद जी बृहदारण्यक के आधार पर यह स्थापना करते है, "जो कुछ जाना जा सका वही वाणी है; वाणी उसका स्वरूप धारण करके उस ज्ञान की रक्षा करती है।" (उप० पृ० ४१)

प्रसाद जी ने इड़ा को बुद्धि और तर्क का प्रतीक बनाया है। 'रहस्यवाद' नाम के निबन्ध में भी उन्होंने बुद्धि और तर्क को दुःखवाद का कारण कहा है। 'कामायनी' में उन्होंने मन, कर्म और ज्ञान के क्षेत्रों की अराजकता का चित्रण किया है लेकिन अन्त में इड़ा और श्रद्धा दोनों मनु के पास पहुँचती हैं। प्रसाद जी एक विशेष प्रकार की तर्क पद्धति या बौद्धिकता का विरोध करते हैं, बुद्धिमात्र का नहीं। वर्गयुक्त समाज में शासकों के मन में कुछ होता है, कर्म कुछ होते हैं, मुँह से वे कहते कुछ और हैं। मन-बचन-कर्म की एकता सम्पत्तिशाली वर्गों में कम देखी जाती है। श्रद्धा कहती है—

> "ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
> एक दूसरे से न मिल सके
> यह विडम्बना है जीवन की।"

कामायनी ज्ञान, कर्म और इच्छा के तीनों लोकों को सम्बद्ध कर देती है। इसलिए प्रसाद का दर्शन बुद्धिवाद विरोधी नहीं है वरन् वह ज्ञान को मानव की सहृदयता से सम्बद्ध करता है।

प्रसाद जी ने अपने समाज-सम्बन्धी विचारों को 'तितली' उपन्यास में और भी मूर्त रूप दिया है। सन्' ३० के बाद हिन्दी कथा-साहित्य में जिस नये यथार्थवाद की लहर आयी थी, 'तितली' उसी की देन है। इसमें हम भारतीय किसानों का शोषण ही नहीं देखते, भारत और ब्रिटेन के जनसाधारण को सताने वालों की झाँकी भी पाते हैं। लन्दन में गरीबों और अमीरों की दो दुनियाँ हैं—एक ओर सुगन्ध जल के फौवारे छूटते हैं, बिजली से गरम कमरों में जाते ही कपड़े उतार देने की आवश्यकता होती है—दूसरी ओर बरफ और पाले में दूकानों के चबूतरों के नीचे अर्ध-नग्न दरिद्रों का रात्रि-निवास। [तितली, छठा संस्करण, पृ० १८]। इन्द्रदेव सोचता है, दूसरे देशों से लूट का माल लाकर भी ये अपने यहाँ की दरिद्रता क्यों नहीं दूर कर सके। ब्रिटेन में भी गरीब हैं, हिन्दुस्तान

में भी गरीब हैं, इनको सताने वाले एक हैं। हिन्दी कथा साहित्य में यह चेतना पहली बार प्रकट हुई थी।

बूढ़ा रामनाथ अकाल की कहानी सुनाता हुआ कहता है—"बिना वस्त्र के सैकड़ों नर-कंकाल, इंजिन के सामने लाइन पर खड़े, पड़े और गिरे हुए, मृत्यु की आशा में टक लगाये थे।" (उप० पृ० ६०)। इनमें वे लोग भी हैं जिनकी भूमि बिक चुकी थी। बंगाल के अकाल को अभी दस साल बाकी थे; फिर भी अंग्रेजी राज ने अकाल को ऐसी साधारण वस्तु बना दिया था कि प्रसाद जी के वर्णन से लगता है मानों बंगाल के अकाल पर ही लिख रहे हों।

"तितली" में किसान अपनी जमीन के लिए लड़ते हैं। रामजस अपनी लाठी पटक कर कहता है—"पैसे के बल पर धर्म और सदाचार का अभिनय करना भुलवा दूंगा। मैंने जो कुछ पढ़ा-लिखा था, सब झूठा था। आज-कल क्या, सब युगों में लक्ष्मी का बोलबाला था। भगवान भी इसी के संकेतों पर नाचते हैं। मैं तुम्हारे इस झूठे पाप-पुण्य की दुहाई नहीं मानता।" (उ० पृ० १७०)

देश का किसान उठ रहा था। वह अपना अधिकार और अपनी शक्ति पहचान रहा था। शासक वर्ग का भय और आतंक ढह रहा था; उससे भी दृढ़ धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की दीवारें ढह रही थीं। यह प्रसाद की महत्ता है कि छायावाद के प्रमुख कवि होते हुए भी उन्होंके इस नये जागरण को पहचाना और उसे चित्रित किया।

रामजस और मधुबन घिर जाते हैं लेकिन बहादुरी से लड़ते हैं। "इधर दो उधर दस। जमकर लाठी चलने लगी। मधुबन और रामजस जब घिर जाते तो लाठी टेक कर दस-दस हाथ दूर जाकर खड़े हो जाते। छः आदमी गिरे और रामजस भी लहू से तर हो गया।" (उप० पृ० १७७)

गाँवों के वर्ग संघर्ष का यह नग्न रूप है जो प्रसाद जी ने चित्रित किया है। जीत जमींदार की होती है लेकिन किसान अपनी जमीन आसानी से नहीं छोड़ता।

"कर्मभूमि" के महन्त की तरह "तितली" में भी एक महन्त हैं जो "भक्तों की भेंट और किसानों का सूद दोनों ही समभाव से ग्रहण करते हैं।" (उप० पृ० १७८)। गरीब माधो—जिसके "घर की स्त्रियाँ रात को साग खोंटकर ले आती हैं, वही उबाल कर नमक से खाकर सो रहती है"—महन्त की निर्दयता देखकर चकित रह जाता है। उसे मंदिर के भगवान में कहीं करुणा दिखायी नहीं देती। महन्त जी निःसहाय स्त्री पर हाथ उठाते नहीं हिचकते। प्रेमचन्द ने "प्रेमाश्रम" में जैसे गौसखाँ को अपने किये का फल पाने दिया है, वैसे ही यहाँ मधुबन महन्त जी के काम-विकार दूर कर देता है।

"तितली" में कोयला मजदूरों के जीवन की एक झाँकी है। पूँजी-वादी समाज ने किस गन्दगी में उन्हें पशुओं से भी गया बीता जीवन बिताने के लिए मजबूर किया है, इसकी तीव्र अनुभूति यहाँ मिलेगी।

यद्यपि "तितली" का अन्त एक सुखी गाँव के चित्र से हुआ है जहाँ सबके पास काम लायक जमीन है, फिर भी स्वयं तितली पूँजीवादी भूमि सुधारों में विश्वास नहीं करती। वह नहीं भूल पाती—"जमींदार ने मेरी पुरखों की डीह ले ली। मुझे माफी पर भी लगान देना पड़ रहा है।" (उप० पृ० २३९)। वह जमींदार के रहते हुए चकबंदी की योजना से कोई लाभ नहीं देखती। "जमींदार साहब के रहते वह सब कुछ नहीं हो सकेगी।······यदि आपलोग वास्तविक सुधार करना चाहते हों, तो खेतों के टुकड़ों को निश्चित रूप में बाँट दीजिए और सरकार उन पर मालगुजारी लिया करे।—कहते हुए तितली ने व्यंग से इन्द्रदेव की ओर देखा।" (उप० पृ० २३९)। इन्द्रदेव को अभिमान है कि उन्होंने त्याग किया है लेकिन तितली कहती है, "हाँ आप जमींदार नहीं हैं तो क्या, आपने त्याग किया होगा। किन्तु उससे किसानों को तो लाभ नहीं हुआ। (पृ० २४०)। ऐसा लगता है, प्रसाद जी ने ये बातें बीस साल

पहले न लिखकर आज लिखी हों। कहने को जमींदार नहीं हैं, जमींदारी प्रथा मिट गयी है। लेकिन किसानों को तो लाभ नहीं हुआ। तितली के ये शब्द पूँजीवादी भूमि-सुधारों की खरी आलोचना हैं।

तितली से वाट्सन कहता है—"किन्तु तुम तो ऐसा स्वप्न देख रही हो जिसमें आँख खुलने की देर है।"

तितली जवाब देती है—"यह ठीक है कि मरने वाले को कोई जिला नहीं सकता। पर उसे जिलाना हो, तो कहीं अमृत खोजने के लिए जाना पड़ेगा।" (उप० पृ० २४०)।

इसका अर्थ यह है कि बुनियादी भूमि सुधार किये बिना किसान की समस्या हल नहीं हो सकती। हल करने में चाहे जितना समय लगे, लेकिन जमींदारों के त्याग [आज के भूदान] से वह समस्या हल होने वाली नहीं है।

× × × ×

इस तरह प्रसाद जी ने हिन्दी साहित्य में लोकजीवन की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने हमें सिखाया है कि इस संसार को मिथ्या मानकर असंभव कल्पनाओं के पीछे भटकने की जरूरत नहीं है। मनुष्य का सुखी या दुखी जीवन यहीं बीतता है। सत्य इसी परिवर्तनशील प्रकृति में है। सौन्दर्य की कोई अरूप सत्ता नहीं है। संसार को दुःख का कारण मानकर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का कल्याण न तो वैराग्य में है न, भोगवाद में। समाज में वर्ग हैं, वर्गों का परस्पर संघर्ष भी है। उसे दूर करके वर्गहीन समाज में मनुष्य को सुखी जीवन बिताना है।

सामाजिक जीवन में कलाकार तटस्थ नहीं है। वह जनता के लिए सहानुभूति रखता है, उसका पक्ष लेता है। प्रसाद के कालिदास अस्त्र उठाकर हूणों से स्त्रियों की रक्षा करते हैं। अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना मनुष्य का कर्तव्य है।

प्रसाद जी ने "तितली" में पराधीनता और निर्धनता के नये चित्र दिये हैं। उन्होंने दिखाया है कि विदेशी शासकों ने किस तरह भारत को नरकंकालों का कारागार बना दिया है। दुनियाँ के गरीबों के सताने वाले

एक हैं। इसलिए दुनिया के गरीब एक हैं। वह गाँवों में वर्ग-संघर्ष के यथार्थ चित्र देते हैं। इस संघर्ष में हिन्दुस्तानी किसान की वीरता और धीरता प्रगट होती है।

"तितली" का यथार्थवाद हिन्दी कथा साहित्य के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम है। न केवल प्रेमचन्द वरन् प्रसाद, निराला आदि भी उसी मार्ग पर बढ़ रहे थे। यह यथार्थवाद स्वाधीनता ही न चाहता था, वह सामाजिक न्याय भी चाहता था। वह देश की उस नयी चेतना को प्रकट करता है जो समाज के पुराने ढाँचे को ही बदलना चाहती थी। यह हिन्दी की अपनी जातीय परम्परा है।

प्रसाद-साहित्य हिन्दी भाषी जनता की मूल्यवान विरासत है। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि इस संसार को सत्य समझना, पीड़ित जनता का समर्थन करना, अन्याय का सक्रिय विरोध करना, साहित्य में उदासीन और तटस्थ न रहकर सामाजिक विकास में सक्रिय योग देना—यह सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही हैं, उसका सहज विकास है। प्रसाद जी की रचनाएँ दुःखवाद, मायावाद, शुद्ध कलावाद भारतीय इतिहास में वर्गों को अस्वीकार करने आदि के विरोध में सजग लेखक के हाथों में सबल अस्त्र हैं। वे भारतीय जनता की विजय में विश्वास दृढ़ करती हैं क्योंकि उनके मधुबन, रामजस, तितली आदि अपना स्वत्व पहचान चुके हैं और उनका शोषण करते जाना अब किसी की सामर्थ्य नहीं है। प्रसाद-साहित्य के मूल्यों को पहचानकर आज का हिन्दी साहित्य और भी साहस से जनता की सेवा कर सकेगा।

———

उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा

एक बीते जमाने की याद की तरह और आने वाले युग की बानगी जैसे वृन्दावन लाल वर्मा अभी हमारे बीच में हैं और अपनी लेखनी से एक के बाद दूसरे अनूठे उपन्यासों से हमारी भाषा और साहित्य का माथा ऊँचा कर रहे हैं। छासठ साल के वर्मा जी में नौजवानों की सी जिन्दादिली है अपनी शक्ति और कला में अटूट विश्वास है, हिन्दी भाषा और देश के उज्वल भविष्य में अटल आस्था है। ऐसे नौजवान आजकल के साहित्यकारों में कम देखने को मिलते हैं। इसीलिये उन्हें बीते जमाने की याद कहा। उनकी छेड़छाड़, चुहल और लगन देखकर भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारों की याद आती है। मंझोला छरहरा स्वस्थ शरीर, चौड़ा माथा, चौड़ी छाती, चौड़ी हड्डियाँ, गहरी पैनी आँखें--इस ढाँचे में न जाने कितनी निर्माण शक्ति, न जाने कितनी अथक परिश्रम करने की सामर्थ्य भरी हुई है। चुस्त और फुर्तीले वर्मा जी को देखकर ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत पहले ही ढेरों उपन्यास लिखने का कार्यक्रम बना लिया था। और इसी के लिए मानों अपने जीवन में इस मंत्र को चरितार्थ करते रहे थे—शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।

आज से लगभग पचीस साल पहले यह पूछने पर कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ उपन्यासकार कौन है, स्वर्गीय बदरीनाथ भट्टने उत्तर दिया था—वृन्दावनलाल वर्मा! भट्टजी को वर्मा जी के उपन्यास बहुत प्रिय थे। यद्यपि उस समय वर्माजी के थोड़े ही प्रारम्भिक उपन्यास निकले थे, फिर भी भट्ट जी उनकी सरस कलाके बहुत बड़े प्रशंसक बन गये थे और उन्हें उपन्यासकारों में बहुत ऊंचा स्थान देते थे।

वर्मा जी के उपन्यास मित्रों की तरह हैं। पढ़िये, रस लीजिये और फिर पढ़िये, कोई नयी बात मिलेगी कोई बात जो पहले ध्यान में न आयी थी और जो बातें याद हैं, वे संगीत की तान की तरह दोहराने

पर फिर आनंद देती हैं। गढ़ कुंडार, कुण्डली चक्र' विराटा की पद्मिनी झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी–इन्हें कौन नहीं जानता ? जो इन्हें नहीं जानता, वह हिन्दी नहीं जानता। ये कृतियाँ हिंदी साहित्य का अमर अंग बन गयी हैं ; प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गोदान आदि के साथ वे कथा साहित्य में "क्लासिक" का स्थान पा चुकी हैं ।

वर्मा जी ने लगभग तभी लिखना शुरू किया था जब प्रेमचन्द ने। प्रेमचन्द के समान ही उनमें लिखने की अपूर्व क्षमता है, प्रेमचन्द के समान उनमें साधारण जनता से गहरा प्रेम है, धार्मिक अंधविश्वासों, सामंती अत्याचारों और जाति प्रथा से घृणा है, प्रेमचंद के समान उन्होंने नारी की वीरता, उसके मान-सम्मान की अनुपम गाथाएँ रची हैं। और हिन्दी का अधिकांश आलोचक-वर्ग जैसे प्रेमचन्द की ओर से उदासीन था, वैसे ही वर्माजी के प्रति भी उदासीन है। लेकिन साधारण पाठकों ने जैसे प्रेमचन्द को अपना लेखक मान लिया था, वैसे ही उन्होंने वर्मा जी को अपना लेखक मान लिया है।

[१]

वर्मा जी ने अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इनका क्षेत्र प्रायः बुन्देलखंड है। उपन्यासों का ढांचा ऐतिहासिक है, उनकी न केवल भौगोलिक वरन् सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी आज की है। उनकी सजीवता का यह बहुत बड़ा कारण है। बुन्देलखण्ड की नदियाँ, झीलें, पहाड़ियाँ, जंगल, पुराने दुर्ग, वहाँ के लोकगीत और सरस बुंदेलखण्डी बोली— यही वर्मा जी की प्रेरणा के स्रोत हैं। उनका बिरला ही उपन्यास होगा जिसमें बेतवा के दर्शन न हों। कहीं बेतवा तीव्र गति के साथ दहाड़ मारती हुई बह रही है, ऊपर से मेह बरस रहा है और हवा ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है। इस आंधी-पानी में निडर स्त्री रामा अपने पति से मिलने के लिए "सघन बादलों में छिपे हुए चन्द्रमा की तरह" नदी पार कर जाती है। ('लगन' में) कहीं विराटा को घेरकर बेतवा बहती है जिसके मंदिर में विराटा की पद्मिनी कुमुद रहती है जिसे लोग दुर्गा का अवतार कहते हैं। यहाँ जंगली पशुओं की आवाजें नदी के कल-कल

में मिल जाती है। पैंजनी का शब्द करती हुई कुमुद इसी बेतवा में कूदती है; "धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोश में ले लिया"। ('विराटा की पद्मिनी' में)। इसी बेतवा के किनारे दीवान रघुनाथसिंह और अपनी सहेलियों के साथ रानी लक्ष्मीबाई आती हैं। "बेतवा दोनों पाट दाबे वेग से चली जारही है।" उस पर हरियाली से ढकी हुई पहाड़ियाँ हैं जिन पर बादल घुमड़ रहे हैं। बेतवा का तीव्र स्वर आँधी से होड़ करता है। रानी आज्ञा देती है—कूद पड़ो; और सबसे पहले लक्ष्मीबाई का घोड़ा बेतवा में कूदता है।

बुन्देलखंड की नदियाँ अपने आप में कविताएं हैं, जंगली प्रदेश पार करके बहती हुई वे बड़ी सुन्दर लगती हैं। वे अपने आप में कहानियाँ हैं। उन्होंने प्रेम, वीरता और बलिदान के न जाने कितने दृश्य देखे हैं। वर्मा जी के पात्रों को बुन्देलखड और उसकी नदियाँ बहुत ही प्यारी हैं। आखेट में मृगनयनी का अद्भुत पराक्रम देखकर राजा पूछता है, "इतना बल तुम में कहाँ से आया ?" मृगनयनी जबाब देती है, "राई की नदी के पानी से। हम लोगों की गाँठ में और है ही क्या ?" यह बात और बहुत से पात्रों के लिये भी सत्य है। जंगलों, पहाड़ों और नदियों की कछारों में घूमने वाले नरनारी स्वभाव से ही स्वाधीनता-प्रेमी हैं; उनका देश-प्रेम उनकी वीरता का उद्गम है।

वर्मा जी ने बुन्देलखंड के झाड़-झंखाड़ों का भी बड़ी आत्मीयता से चित्रण किया है। करधई, रेवंजा, नेगड़, कौंकेर और मकोय के घने जंगलों में वह चतुर शिकारी की तरह पाठक को अपने साथ घुमाते हैं। नदी के पास साल और सागोन के वन में मृगनयनी और लाखी शिकार खेलती हैं। करधई की कत्थई रंग की झाड़ी में दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं। वन-प्रकृति का यह निकट से परिचय कथा के यथार्थ रंग को और गहरा कर देता है। कहना न होगा, आखेट का वर्णन करने में वर्मा जी हिन्दी उपन्यासकारों में अद्वितीय हैं। कल्पना का विशेष पुट दिये बिना ही वह मानो अनुभव के आधार पर आखेट की साहसिकता,

भय, पशुओं की चतुराई, अहेरी की सतर्कता, सभी का सजीव चित्र खड़ा कर देते हैं।

बुन्देलखड की कहावतें, मुहावरे, लोकगीत आदि वर्माजी के उपन्यासों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हैं। उन्होंने अनेक ग्रामीण शब्दों का अपने गद्य में प्रयोग करके भाषा को समृद्ध किया है। सरकना, कदाच, अनखाये, डिड़कार, निहोरा, डांग, अधपर, हांका, रौरा, चेंथरी, रावली, गेंवड़े, करमीले, आदि शब्दों के प्रयोग की सार्थकता इसमें भी है कि उपन्यास में स्थानीयत का रंग निखर उठता है। पाठक आँखों से प्रेम और वीरता के दृश्य ही नहीं देखता, वहां की बोली बानी भी सुनने लगता है। प्रेमचंद की तरह वर्मा जी के पात्र भी खड़ी बोली का ही प्रयोग करते हैं लेकिन उनकी खड़ी बोली बुँदेलखंडी रंग में रँगी होती है। उसे सुनकर ऐसा लगता है कि गाँव के लोग खड़ी बोली बोलेंगे तो ऐसे ही। लेकिन जहाँ वर्मा जी अपने पात्रों को बुँदेलखंडी में ही बोलने देते हैं, वहाँ के संवादों की सरसता का क्या कहना। "गढ़कुंडार" में अरजुन कुम्हार की बातें सुनते मन नहीं अघाता। उसकी बात चीत में बुँदेलखंडी किसान की विनोदप्रियता चतुराई, आत्म सम्मान और वीरता की भावना भरी हुई है। किले का दरवाजा खट-खटाने वालों से वह बड़े तपाक से कहता है "अरजुन कौं बान खाके कोऊ राम को नांव लों नईं लै पाउत।" बिना अलकारों के तो वह बात ही नहीं करता। एक बार ललकारे जाने पर वह जवाब देता है "लरबे कौं औसर आहै तो कौन माता खों सात बेरें जनम देने।" "विराटा की पद्मिनी" में एक किसान की बातचीत में क्या बांकपन है, "ऐसी का जल्दी परी दाऊजी ? जो कछु लटौ दूबरा कनूका हमाए गांठ में है सो नजर है। हमसे ऐसी का बिगरी कि अबई जावो हो जैय ?" लगता है कि यह किसान उपन्यासकार से भी बढ़कर भाषा का धनी है।

"झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" में झलकारी के दो बोल अमर हैं। रानी नाम पूछती है। जवाब मिलता है, "सरकार, झलकारी दुलैया।" इस "दुलैया" के आगे देव, बिहारी, मतिराम सब हेमात हैं। उस शब्द की

व्यंजना शक्ति को उनके सवैया घनाक्षरी पा नहीं सकते। और जब झाँसी अङ्गरेजों के अधीन हो जाती है, तब झलकारी दुलैया बुन्देलखंड की जनता का अपार क्षोभ इस वाक्य में उड़ेल देती है: "छाती बर जाय इन अङ्गरेजन की, गुटक लई झाँसी।"

वर्मा जी के उपन्यासों में जहाँ-तहाँ लोकगीतों के स्वर सुनायी देते हैं। लोकगीत लोक-संस्कृति का अभिन्न अङ्ग हैं। जनता का चित्रण करते हुए लोकगीत एक ओर कथा में बुन्देलखण्डीपन का आभास देते हैं—स्थानीयता उभारकर यथार्थवाद को पुष्ट करते हैं—दूसरी ओर उपयुक्त अवसर पर—जहाँ गद्य काम नहीं कर सकता—वे पाठक और लेखक की भावना प्रकट करते हैं। "झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई" में दीवार लाँघने के पहले सागरसिंह याद करता है, "फेर न जननी जनम है, फेर न खैंच कमान।" तोप चलाने के पहले गौस खाँ यह पंक्ति सुनाता है: "जननी जनम दियो है तोखों बस आजहि के लाने।" और अब्बी दाऊजी की यह पंक्ति वीररस की व्यंजना में अद्भुत है: "झाँसी की जो लटी तकै तिहिं खाएँ कालका माई।"

"विराटा की पद्मिनी" का अंत इस मार्मिक पंक्ति से होता है: "उड़ गये फुलवा, रह गयी बास।" लोकगीत की इस पंक्ति को विराटा की पद्मिनी का दुःखपूर्ण अन्त दिखाने के लिए वर्मा जी ने बड़े चतुर ढंग से प्रयुक्त किया है। उसमें जो वेदना केन्द्रित है, वह एक श्रेष्ठ कलाकार की संयत शैली में सब कुछ कह देती है जो एक अध्याय के व्याख्यान में न कहा जा सकता।

गाँवों के साँस्कृतिक जीवन में केवल लोकगीत नहीं है; वहाँ नाच है, आखेट है, फाग और होली है, कसरत-कुश्ती, तैराकी आदि का प्रेम भी है। यद्यपि सैकड़ों वर्षों तक सामन्तों ने रासरंग पर अपना अधिकार जमा रखा था और जनता को दुखी जीवन बिताने पर विवश किया था, फिर भी भारत की जनता के हृदय से कला का प्रेम मिटा नहीं है। वह उसके लोकनृत्यों और उत्सव-विनोद के रूप में सुरक्षित है। वर्मा जी इस कला के प्रेमी हैं; वे जनता का यह कला-प्रेम अपने

उपन्यासों में चित्रित करते हैं। "झाँसी की रानी, लक्ष्मीबाई" में हरदी कूँकूँ का नाम लेना कला-प्रेम और विनोद-प्रियता का परिचायक है। हरदी कूँकूँ से खेलने वाली ये स्त्रियाँ ही खून की होली खेलने के लिए भी आगे बढ़ती है। उनमें भरे-पूरे, स्वस्थ और कलापूर्ण जीवन की चाह है। वे पर्दे के भीतर बैठकर पति की आराधना करने वाली देवियाँ नहीं हैं। वे आततायी के सामने लाज से छुईमुई-सी म्लान नहीं हो जातीं। वे अपने देश और नारीत्व की रक्षा करती हैं। उनकी वीरता का एक कारण उनकी स्वाधीन-प्रकृति, जीवन और कला से उनका प्रेम भी है। हरदी कूंकू के अवसर पर "झलकारी ने तो अपने बुन्देलखंडी नृत्य में अपने को बिसरा दिया।" जब गंगाधर राव को शासन का अधिकार मिल गया और झाँसी में अङ्गरेजी फौज रखना भी तै हुआ तब "दरबार हुआ, खुशियाँ मनाई गयीं, खेल कूद, नाटक इत्यादि हुए, परन्तु अनेक झाँसी निवासियों को खोखलापन ही दिखलायी पड़ा।" विदेशी छाया में जीवित सामंती संस्कृति का यहखोखलापन झलकारी के बुंदेलखंडी नृत्य का मुकाबला नहीं कर सकता। "टूटे काँटे" उपन्यास में वर्मा जी ने यह अंतर और भी स्पष्ट कर दिया है। नूरबाई सामंतों के दरबार में कला का वह मर्म नहीं खोज पाती जो उसे ब्रज की धरती पर आनन्द विभोर होकर नाचते हुए मिल जाता है। "नूरबाई गाते-गाते नाच उठी और यमुना कूल की ओर बढ़ने लगी। बढ़ते-बढ़ते धूप में आ गयी ....नूरबाई की पदचापों से रज उठ रही थी जिसको पवन के झोंके उसके चारों ओर घुमा घुमा दे रहे थे।" मृगनयनी भी नृत्य से प्रेम करती है। वह अपने ताण्डव से दर्शकों में वे भाव पैदा करती है जो सामन्ती कला की पहुँच से बाहर थे। चित्रकला में भी जहाँ केवल आनन्द और मनोरंजन था, वह पुरुषों को उनके कर्तव्यों की याद दिलाती है।

वर्मा जी इस कलाप्रेमी जनता के कुशल चितेरे हैं। उनका सरस हृदय इस जनता के प्रेम और वीरता की कहानियों पर मुग्ध है। बुन्देलखंड की नदियों, जंगलों और पहाड़ों की चित्रमय पृष्ठभूमि में

प्रेम और वीरता की अनेक घटनाएं हम देखते हैं और इन कथाओं को सरस बनाने वाले लोकगीत, ग्रामीण मुहावरे, हास्य और, विनोद, वर्मा जी की कला को और भी सजीव कर देते हैं।

[२]

वर्मा जी की कला निषेधात्मक नहीं है। उसका आधार जीवन के प्रति उदासीनता और वैराग्य नहीं है। प्रसाद जी की तरह उनका दृष्टि-कोण आनन्दवादी है। यह आनन्दवाद सामन्ती विलासिता से एकदम भिन्न है। उसमें कर्म और आनन्द का समन्वय है। वह जीवन की सर-सता का तिरस्कार न करके उसे ग्रहण करता है।

वर्मा जी के उपन्यास प्रेम और वीरता की गाथाएँ हैं। इनमें नारी पात्रों की भूमिका प्रमुख है। वीरता और सौंदर्य में कोई बैर नहीं है। वर्मा जी सौंदर्य का वर्णन किसी कवि की तरह करते हैं। विराटा की पद्मिनी का सीधे वर्णन न करके वह उसके सौन्दर्य का प्रभाव इस उपमा द्वारा व्यंजित करते हैं: "ऐसा जान पड़ा मानो कमलों का समूह उपस्थित हो गया हो।" नागदेव "गढ़कुण्डार" की हेमवती के बारे में सोचता है: "कोमल अंग हैं, उछलती हुई बड़ी आँखें हैं, सोने का रंग है, गरबीली ठोढ़ी है, सीधी नाक है।...और हाथ में तलवार और तीर कमान।" मृगनयनी और लाखी जब करधई की झाड़ी में घुसती हैं, तब कछौटा मारे हुए उनके वेश का वर्णन लेखक ने विशेष मौलिकता का परिचय देते हुए किया है।

ये नारी पात्र लक्षण-ग्रन्थों की नायिकाएं नहीं हैं। उनका अपना व्यक्तित्व है, मान-अपमान की भावना है, वे प्रेम करना जानती हैं और प्रेम के लिए मर मिटना भी जानती हैं। यह प्रेम की समस्या उपन्यासों में घटनाओं के विचित्र ऊहापोह खड़े कर देती है।

"विराटा की पद्मिनी" में कुमुद को लोग दुर्गा का अवतार कहते हैं लेकिन है वह एक साधारण नारी। उसे कुंजरसिंह से प्रेम है। लेकिन कुंजरसिंह दासीपुत्र है। प्रेम न जाति-पाँति का विचार करता है, न ऊँच-नीच का भेदभाव मानता है। एक बार कुंजरसिंह कहता

है।' "आपका यह विचार है कि मैं नीच हूँ, और नीच को वरदान नहीं दिया जा सकता। परन्तु मैं कहता हूँ कि वसन्त छोटे और बड़े सब प्रकार के वृक्षों को हरियाली देता है, धराशायी घास के तिनकों में भी नन्हें-नन्हें सुन्दर फल लगा देता है। और पवन किसी स्थान को भी अपनी कृपा से वंचित नहीं रखता।" कुमुद स्वयं उसे नीच नहीं समझती; वह राजकुमार कहकर उसे संबोधित करती है। अपने हक के लिये लड़ने को कहती है। युद्ध के लिये चलते समय कुंजरसिंह स्पष्ट शब्दों में अपना प्रेम निवेदन करता है। कुमुद यथा संभव स्पष्ट उत्तर देती है; "आप अपनी तोपों को जाकर संभालिए। मैं दुर्गाजी से आपकी रक्षा और विजय के लिए प्रार्थना करती हूँ।" कुमुद उसके साथ युद्ध में जाना चाहती है लेकिन कुंजरसिंह उसे मंदिर में ही ठहरने को कहता है। वह निराश प्रेमी को तरह कहता है, मुझे भूल जाओ। कुमुद अपने आँसुओं से ही इसका उत्तर दे सकती है। कुंजरसिंह उससे तलवार की मूठ छूने की प्रार्थना करता है। कुमुद एक हाथ उसकी तलवार की मूठ पर रखती है, दूसरा उसके कंधे पर। कुंजरसिंह उसे हृदय से लगा लेता है और कुमुद अपना सिर उसके कंधे पर रख देती है। सामंती व्यवस्था की वेदी पर कुमुद और कुंजरसिंह के प्रेम की बलि चढ़ा दी जाती है और कुंजरसिंह को अन्त में यही कह कर संतोष करना पड़ता है : अगले जन्म में फिर मिलेंगे।

"गढ़ कुंडार" में ब्राह्मण अग्निदत्त और राजकुमारी मानवती का प्रेम उसी सामन्ती व्यवस्था से टकराता है। मानवती पूछती है—इस प्रेम का अन्त कैसे होगा ? अग्निदत्त अपने बलिदान की बातें करता है। लेकिन बलिदान स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। अग्निदत्त दुविधा की बात करता है : "संसार में रहेंगे तो हम तुम दोनों एक दूसरे के होकर रहेंगे और नहीं तो पहले अग्निदत्त तुम्हारी विदा लेकर....." मानवती यों विदा लेकर प्राण देने में विश्वास नहीं करती। वह अपने प्रेमी से डाट कर कहती है : "आगे ऐसी बात कभी मत करना। इस सुविस्तृत संसार में हमारे-तुम्हारे लिए बहुत स्थान है।" सामन्ती समाज में जाति प्रथा

का उल्लंघन करके प्रेम करना और प्रेम करके एक साथ रहना आसान नहीं है। शासक वर्ग और उसके चाकर पुरोहित इसे अपने लिए खुली चुनौती मानते हैं। वर्मा जी के पात्र जाति प्रथा के बन्धन नहीं मानते; वे उनमें बंधे हुए घुटते हैं, प्राण दे देते हैं, तोड़ने के लिए जोर लगाते हैं और अक्सर तोड़ भी देते हैं। उनके प्रेम का चित्रण सामन्ती व्यवस्था और जाति-प्रथा की कड़ी आलोचना है।

नागदेव को जब अपने मित्र अग्निदत्त के प्रेम का पता चलता है तब वह आपे से बाहर हो जाता है। वह तमाम पिछले आश्वासन और मित्रता की मीठी बातें भूल कर अग्निदत्त को बुरी तरह अपमानित करता है और अन्त में अग्निदत्त का यह अपमान उसके विनाश का भी एक कारण बन जाता है। इसी तरह "गढ़कुंडार" में तारा और दिवाकर का प्रेम है। स्वयं दिवाकर अपने संस्कारों के कारण प्रेम करने का विचार छोड़ देना चाहता है। सोचता है—"ब्राह्मण और अब्राह्मण के संयोग की कल्पना क्या? इसका तो विचार तक वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध है।" तारा बड़ी वीरता से दिवाकर की रक्षा करती है और अन्त में उसका प्रेमी कहता है—"हमारा संयोग अखंड और अनन्त है।" लेकिन इसे वह आध्यात्मिक प्रेम का रूप देता है; शरीर को वह योग साधन से वश में रखना चाहता है।

कुमुद, कुंजरसिंह, अग्निदत्त, मानवती, दिवाकर, तारा आदि सामन्त न होते हुए भी उस वर्ग के बहुत निकट हैं। ये सामन्ती व्यवस्था से पीड़ित हैं लेकिन उसके विरुद्ध उठ खड़े होने की शक्ति उनमें नहीं है। यह शक्ति "मृगनयनी" की लाखी में है जिसने राई का पानी पिया है, जंगल में अरनों का शिकार खेला है, जो तीर कमान से अपनी रक्षा करना जानती है। मृगनयनी और लाखी के पास खाने के लिए सम्पत्ति नहीं है। उनका प्रेम खाते-पीते घरानों की निष्क्रिय स्त्रियों का नहीं है; उनका प्रेम निर्धन वर्गों का है जो संपत्तिशाली वर्गों के मुकाबले में प्रेम का महत्व ज्यादा अच्छी तरह समझते हैं। मृगनयनी निश्चय करती है कि वह लाखी को अपनी भाभी बनायेगी। वह कहती है—"हम तुम निर्धन

हैं। दोनों एक से। तुम्हारी सम्पदा तुम्हारी माँ है; मेरी, मेरा भाई। तुम मेरी और उनकी होकर रहोगी, बुरा न मानों लाखी।" लाखी शंका करती है—हमारी तुम्हारी जात में ऐसा कैसे हो सकता है? गाँव वाले क्या कहेंगे? मृगनयनी उत्तर देती हैं—"गाँव वाले कहा सुनी करेंगे तो नदी ऊपर किसी डूंगर जंगल में चले जायंगे, परन्तु तुमको अपनी भौजी बनाने की साध तो पूरा ही करके छोड़ूंगी।" जब स्वयं मृगनयनी से मानसिंह अपनी जीवन संगिनी बनने की प्रार्थना करते हैं तब वह सरलता से कहती है-"मैं राजाओं की भाषा नहीं जानती।" अपना धूलभरा हाथ मानसिंह के हाथ में देते हुए वह इतना ही कहती है "मेरी पत रखना।" मृगनयनी रानी बनने जा रही है। इसलिए पत रखने के लिए राजा से ही उसे प्रार्थना करनी पड़ती है।

इसके विपरीत लाखी का प्रेम है। पत रखने की प्रार्थना करना तो दूर, वह पति को सिखलाती है कि संमान रक्षा के लिए ग्वालियर क्यों न जाना चाहिए। उसके प्रेमी अटल को विवाह-बन्धन में बाँधने के लिए पुरोहित नहीं आते। सरल हृदय अटल भगवान को साक्षी करके कहता है' "कुंआरा हूँ और लाखी कुआँरो है। मैं गंगा जी की सौगंध खाकर कहता हूँ कि यह जन्म भर मेरी होकर रहेगी।" राजा मानसिंह मृगनयनी से न कह सकते थे—मैं कुआँरा हूँ। उनके यहाँ आठ रानियाँ पहले से मौजूद हैं; नवीं मृगनयनी और जुड़ जाती है। उन्हें प्रेम के लिए त्याग नहीं करना पड़ता; उनके लिये प्रेम एक साहस का काम नहीं है। लेकिन अटल के लिए प्रेम एक चुनौती है। उनके सामने प्रश्न यह है—समाज के ठेकेदार तुम्हें दुरदुरायेंगे; लड़ सकोगे उनसे? और अटल लाखी से कहता है: "अब सदा के लिए तुम मेरी हुई, चाहे जाति मुझको रक्खे या निकाले, चाहे गाँव से भगा दे, मेरा तुम्हारा सम्बन्ध कभी नहीं टूटेगा।" अटल की यह चुनौती उसके प्रेम को मानसिंह के प्रेम से बहुत ऊँचे उठा ले जाती है।

लेकिन अटल में भी मान-सम्मान की वह दृढ़ भावना नहीं है जो लाखी में है। उसे सीधा रास्ता यह दिखाई देता है कि गाँव छोड़कर

ग्वालियर चला जाय। लेकिन लाखी को लगता है कि यों भाग खड़े होना कायरता होगी। इसके सिवा लोग कहेंगे कि ये राजा के टुकड़ों पर पलते हैं। वह गाँव में निन्दाचार की चर्चा करते हुए अटल को समझाती है: "कोई मुझको यदि किसी की चेरी कहे, चाहे वह मेरी निज ननद ही क्यों न हो तो मैं नहीं सह सकूँगी और न यह सह सकूँगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगों को भगवान ने भुजाओं में बल दिया है और काम करने की लगन। कुछ करके ही ग्वालियर चलेंगे।"

लाखी के चरित्र को वर्मा जी ने कुछ रंग चुनकर यथार्थ से ऊपर नहीं उठा दिया। यदि रंगने-चुनने का काम उन्होंने कहीं किया है तो विराटा की पद्मनी जैसे पात्रों में जो बहुत कुछ निष्क्रिय हैं और प्रेम के लिए घुलघुल कर मर तो सकती हैं लेकिन सामन्ती व्यवस्था को खुली चुनौती नहीं दे सकतीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वर्मा जी को रानियों के जीवन का ज्ञान नहीं है—"मृगनयनी" की कथा-वस्तु के संग्रह में "महामान्या महारानी साहब ग्वालियर" ने भी उनकी सहायता की है, यह उस उपन्यास की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है—लेकिन यह जरूर कहा जा सकता है कि उन्हें बुन्देलखण्डी साधारण स्त्रियों का जितना ज्ञान है, उतना रानियों का नहीं। लाखी जैसी स्त्रियाँ हिन्दीभाषी प्रदेश में सैकड़ों हैं, बुन्देलखण्ड में तो खास तौर से। लाखी की सजीवता का यही कारण कि वह इन निर्भीक, स्वाभिमानी और स्वावलम्बी स्त्रियों की प्रतिनिध है। लाखी और अटल का प्रेम इसीलिये हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेम की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति है।

लाखी ही अपने प्रेमी से कह सकती है: "उतर पड़ो संसार में कमर कसकर और सिर उठाकर निन्दाचारे का सामना करो।" लाखी का यह स्वर भारतीय नारी का वह अजेय स्वर है जिसे सैकड़ों वर्षों के प्रयत्न के बाद भी सामन्त कुचल नहीं पाये, जिसे धर्मशास्त्र के सैकड़ों पोथे अपने बोझ से दबा नहीं पाये। लाखी का यह स्वर इस बात का प्रमाण है कि

भारतीय नारी अवसर मिलते ही सामन्ती बन्धनों को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर डालेगी।

और लाखी सौत बर्दाश्त नहीं कर सकती। आठ रानियों तो दूर, नटिन को अटल के सामने हाव-भाव दिखाते हुए झेंप कर पति से पूछ ही तो बैठती है : "क्या उस पिल्ली पर कुछ मन चल गया था ?" लाखी की यह ईर्ष्या भी उसे महान बनाती है, कारण कि मन की बात मन में रखकर वह घुट-घुटकर मरना नहीं जानती। इसके विपरीत मृगनयनी को जब मालूम हुआ कि मानसिंह के पहले से ही आठ रानियाँ हैं तो "उसको बात असाधारण नहीं लगी और न अखरी ही। तो भी उसके मन में प्रश्न उठा, जब इन्होंने पहली स्त्री से ब्याह किया होगा तब उससे भी इस तरह का प्रेमालाप करते होंगे, फिर दूसरा, तीसरा और आठवाँ ब्याह किया; हर एक रानी के साथ आरम्भ में इसी प्रकार की चिकनी और मीठी बातें करते रहे होंगे.....।" यही लाखी अपनी सखी मृगनयनी को मात दे देती है। उसका प्रेम दुर्विनीत है, ईर्ष्यालु है, असहनशील है, व्यक्तित्व को मिटाने वाला नहीं, उसे और निखारने वाला है; इसीलिए महान है।

वर्तमान समाज में स्त्रियों को दोहरी गुलामी का शिकार होना पड़ता है। जहाँ पुरुषों को सामन्तों और पूँजीपतियों की गुलामी का कटु अनुभव होता है, वहाँ स्त्रियों को इस बाहरी सामाजिक पराधीनता के साथ भीतरी पारिवारिक पराधीनता भी भोगनी पड़ती है। यही कारण है कि पुरुषों की अपेक्षा उनकी सामन्त-विरोधी चेतना अक्सर ज्यादा तीव्र होती है। राजा देवीसिंह ने गोमती का विधिवत् पाणिग्रहण किया था। लेकिन "राज-काज की उलझनों में" वह उसे भूल गये हैं। कुमुद गोमती का पक्ष लेकर कहती है : "क्या राजा होते ही वह यह भूल गये कि उस दिन पालर में उनकी बरात गयी थी, बंदनवार सजाए गये थे, स्त्रियों ने कलश रखे थे, मंडप बनाया गया था और गोमतीके शरीर पर तेल चढ़ाया गया था ?" और देवीसिंह से फिर सामना होने पर, जब नरपति उसे लिवा लेजाने की चर्चा करता है, तब गोमती तमककर पूछती

है—"किसे लिवा लेते जायँगे ? क्या मैं कोई ढोर गाय हूँ ?" नारी पशु की तरह जहाँ चाहो लिवा ले जाने का विरोध करती है। सामन्ती व्यवस्था ने उसे पशु का ही दर्जा दिया है,पुरुष के पशुत्व की सेवा के लिए, निरीह पशु की तरह उसकी लातें सहने के लिए। कुमुद गोमती का पक्ष लेकर देवीसिंह को फटकारती है—"क्या आप समझते हैं कि स्त्रियों में निजत्व की कोई लाज नहीं होती ?" निजत्व की लाज, दो शब्दों में नारी-समस्या का यही मूल-सूत्र है। नारी इस निजत्व के लिए लड़ती रही है और सामन्ती व्यवस्था के पहरेदार कभी सती की चिता पर और कभी गृहलक्ष्मी की पूजा करके इसी निजत्व को कुचलते रहे हैं।

प्रेम के लिए नारी अपार धीरता और वीरता का परिचय दे सकती है। "गढ़ कुंडार" की तारा वर्ण-व्यवस्था की परवाह न करके जब बंदी-गृह से दिवाकर को उबारने पहुँचती है, तब वह स्त्री-सुलभ लज्जा पर भी नियंत्रण करती है। उसे साड़ी से रस्सी का काम लेना है। उसका मुड़ासा छोटा पड़ता है; आधी साड़ी जोड़कर ही वह नीचे उतर सकती है। "सुनीता","दादा कॉमरेड", "नदी के द्वीप" आदि में निरावरण नारी के चित्र देकर हमारे अनेक उपन्यासकारों ने पुराने दरबारी कवियों को पछाड़ दिया है। वर्मा जी ने इस परिस्थित को कैसे निबाहा है, यह ध्यान देने योग्य है। अंगरखे को उतारकर दूसरी ओर डाल दिया। साड़ी उतारने को हुई कि शरीर की लज्जा का खयाल आया। एक हाथ से साड़ी का छोर पकड़े मुक्त-केश, सिर पर दूसरा हाथ रखे, चन्द्रमा की ओर देखने लगी। तारा ने मन में कहा—'यह देह किसी दिन भस्म हो जायगी। अब और किस काम में आना है?' और बीच से साड़ी फाड़कर वह लम्बी रस्सी के सहारे नीचे उतर जाती है।

ये स्त्रियाँ प्रेम करना ही नहीं जानतीं 'वे देश और स्वाधीनता के लिए पुरुषों के साथ कदम बढ़ाकर—अक्सर उनसे आगे बढ़कर—लड़ना भी जानती हैं। लाखी को ठीक ही नरवर का रक्षक कहा गया है। युद्ध में वह अपूर्व साहस और बुद्धिका परिचय देती है। जब उसे और

मृग नयनी को पकड़ने तुर्क सिपाही आते हैं, तब वह उसके कवच के भीतर आँख वाले छेद से उस पर निशाना साधती है और उसका तीर सिपाही को जमीन पर ला गिराता है। जब पिल्ली उसे रस्सी के सहारे किले से बाहर निकाल कर तुर्क सामन्त के हवाले करना चाहती है? तब वह बहुत ही धीरज से काम लेकर पिल्ली को किसी तरह का सन्देह करने का मौका न देकर खाई के ऊपर तनी हुई रस्सी काट देती है और उसके सहारे उस पार जाती हुई पिल्ली अपने किये का फल पाती है। वह किले में बन्द रहने की अपेक्षा निकलकर रात में छापा मारने में विश्वास करती है। उसका पति उसे चुप कर देता है' "तुम क्या जानो, अंधेरे में कहीं छापा मारा जा सकता है ? किले में बैठकर लड़ना अच्छा होता है।" लाखी को यह बात नहीं रुची। परन्तु उसने विवाद नहीं किया। यदि उसे अवसर मिलता तो वह दिखला देती कि रात में भी छापेमार युद्ध हो सकता है। वास्तवमें उसे युद्ध की पुरानी सामन्ती पद्धति पसन्द नहीं है। वह किले की दीवारों से खुले जंगली प्रदेश में गतिशील रणकौशल को ज्यादा उपयोगी समझती हैं। वह रात में आक्रमणकारियों का विरोध करते हुए ही खेत रहती है। वह मुँह से खून थूकते हुए भी अंतिम क्षणों में तलवार के वार से एक आततायी का अंत कर देती है। लाखी को यदि झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का एक छोटा संस्करण कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

लाखी जैसे पात्र काल्पनिक नहीं हैं, केवल हमारे अधिकांश उपन्यासकार उन्हें भूल रहे हैं। झांसी की रानी अकेली वीर नारी न थीं जो शस्त्र लेकर अंग्रेजों से लड़ी थी। उनकी सहेलियां सुन्दर मुन्दर अविस्मरणीय हैं। उनका स्वदेश-प्रेम 'रानी से उनकी प्रीति' उनका युद्ध कौशल और वीरता पाठक के चित पर सदा के लिये अंकित हो जाते हैं। जिस समय दूल्हाजू नामका देशद्रोही अंग्रेजों के लिये किले का फाटक खोलने चलता है, उस समय सुन्दर तड़क कर कहती है, "देशद्रोही, नरक के कीड़े, तू अंग्रेजों से कुछ नहीं पायेगा।" उसकी तलवार का वार दूल्हाजू लोहे की छड़ पर लेता है, तलवार टूट जाती है। वह टूटी

तलवार से भी लड़ती रहती है कि एक अंग्रेज की गोली उस के सिर में लगती है। जिस समय दो गोरे सिपाही बाहर पत्थरों के नीचे उसका शरीर दबाते हैं, उस समय भी वह टूटी तलवार उसकी मुट्टी से छूटती नहीं है। इन स्त्रियों में हिंदू और मुसलमान दोनों हैं। वीर मुस्लिम महिला मोतीबाई का प्राणान्त रानी लक्ष्मीबाई की गोद में होता है। "रानी की गोदी मोतीबाई के खून से तर हो गयी", एक संस्कृति यह है जिसे मोतीबाई और लक्ष्मीबाई अपने खून से सींच कर दृढ़ कर गयी हैं, और एक संस्कृति वह है जिसे अंग्रेज और उनके चाकरों ने हिन्दू मुसलमानों का खून बहाकर हरा भरा किया है। हम भारतीय संस्कृति पहली तरह की ही संस्कृति को कहते है।

झलकारी शत्रु के शिविर में जाकर अपने को झांसी की रानी घोषित करती है जिससे रानी का पीछा न किया जाय। देशद्रोही दूल्हाजी वहाँ भी मौजूद है और झलकारी की योजना पर पानी फेर देता है। उसे कैद में डाल दिया जाता है। बाद में वह छूट जाती हैं।

जब तांत्या जूही के पास पेशवा के सामने नाचने का प्रस्ताव लेकर आता है, तब उसे फटकारते वह हुए कहती है, "मैं झासी की रानी की सिपाही हूँ और किसी राजा या नवाब से अपने को कम नहीं समझती।" वह वेश्या-पुत्री है लेकिन वेश्या नहीं है। वह तांत्या से प्रेम करती है और विलासी सामन्तों से उतनी ही घृणा करती है।

इन साधारण स्त्रियों ने झांसी की रक्षा के लिये अपना खून बहाया था। वे झाँसी को नहीं बचा सकीं लेकिन उन्होंने भारतीय जनता के राष्ट्रीय सम्मान को बचा लिया। शत्रु को पग पग धरती के लिये रक्त का मूल्य चुकाना पड़ा। लक्ष्मीबाई इन्हीं नारियों और वीर जनता की निधि हैं। उस उपन्यास में चाहे जो खामियाँ हों, एक बात निश्चित है कि लक्ष्मीबाई का इससे सुन्दर चित्र आँकने वाला कलाकार अभी हिन्दी में पैदा नहीं हुआ। वह उस प्रतिरोध की लहर के साथ आगे बढ़ती हैं जो विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ झाँसी और बुन्देलखण्ड की जनता में उत्पन्न हुई थी। वह एक वास्तविक जन-नेता हैं।

जनता की शक्ति में उन्हें अटल विश्वास है। रानी अपने सिपाहियों के लिए कहती है: "आज मैं स्वयं अपने लोगों के लिये कलेवा तैयार करूँगी।" रानी के हृदय में अपने सैनिकों के लिये जो अगाध स्नेह था, वह इस वाक्य से अधिक और किसी तरह प्रकट न हो सकता था। केवल स्वाधीनता के लिये लड़ने वाले सैनिकों में ऐसे वीर सेनापति उत्पन्न होते हैं, केवल जनता से अपने को अभिन्न समझने वाले सेनापति अपने सैनिकों को इतना स्नेह दे सकते हैं। उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने अनुपम कलात्मक प्रतिभा से रानी और जनता का यह अटूट सम्बन्ध चित्रित किया है।

रानी अन्त तक किस तरह लड़ी, वह वर्णनातीत है। यहाँ उपन्यास और यथार्थ मिल गये हैं। कथा के अन्तिम पृष्ठ झाँसी का अमर जीवित इतिहास है। जहाँ रानी की चिता जली थी, वहाँ चबूतरा बनाता है, गुल मुहम्मद। अँग्रेजी दल का नायक पूछता है: "यह किसका मजार है साईं साहब?" गुलमुहम्मद जवाब देता है: "अमारे पीर का, वो बौत बड़ा वली था।"

[३]

जन-साधारण की वीरता और प्रेम का चित्रण और सामन्ती व्यवस्था तथा सामन्त वर्ग के प्रति सहानुभूति—ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते। जन-साधारण की वीरता और प्रेम के विरोध में सामंती व्यवस्था और सामंत वर्ग ही खड़े होते हैं। इसलिए वर्मा जी के उपन्यासों में सामन्ती संस्कृति के प्रति सहानुभूति का अभाव ही नहीं हैं, उनमें उसकी तीव्र आलोचना भी है। वर्माजी के लिये इतिहास वर्तमान से भाग कर एक कल्पित स्वर्ण युग के सपने देखने का बहाना नहीं है। उनके लिए हिन्दू सामन्त म्लेच्छों से भारतीय संस्कृति का उद्धार करने वाले योद्धा नहीं हैं, उनके लिए कला की सार्थकता नायिका भेद के चित्रण में नहीं है, उनके लिए नारी जीवन की सार्थकता चुप-चाप कष्ट सहने, पति की हर आज्ञा मानते या चिता पर चढ़कर सती होने में नहीं है। वह जीवन को स्वीकार करने वाले, नारी और जन-साधारण के अधिकारों का पक्ष लेने

वाले, वर्तमान समाज-व्यवस्था के बंधनों की आलोचना करने वाले साहित्यकार हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सामन्त-वर्ग के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का होना एक अनोखा गुण है। यह गुण विदेश के भी कम उपन्यासकारों में पाया जाता है। वर्मा जी और अंग्रेज लेखक स्कॉट में यह अन्तर ध्यान देने योग्य है—स्कॉट ने जहाँ एक ओर स्काटलैंड के जन-साधारण के अनुपम चित्र दिये हैं, वहाँ उसने सामन्ती वैभव के लुभावने चित्र भी दिये हैं। बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी भी सामन्ती वैभव के चित्र आँकते हुए सामन्ती अत्याचारों की कहानी भूल गये हैं। वर्मा जी जिस युग के लेखक हैं, वह स्कॉट और बंकिम के युगों से भिन्न है। यह युग दो महायुद्धों के बीच का युग है जब भारत में एक विराट् साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का प्रसार हुआ। इसी युग ने प्रेमचंद को पैदा किया। प्रेमचन्द की चेतना और स्कॉट की चेतनाओं में जमीन आसमान का फर्क है। वर्मा जी की चेतना प्रेमचन्द के अधिक निकट है, स्कॉट के कम। इसके सिवा नारी के प्रति सहानुभूति और उसकी वीरता का चित्रण वर्मा जी की मौलिक विशेषताएँ हैं। उनकी कथाएँ इन्हीं विशेषताओं के मूल पर पल्लवित हुई हैं। यह काम स्कॉट की प्रतिभा के बाहर का था। फिर लाखी या लक्ष्मीबाई जैसी स्त्रियों का होना कुछ हिन्दुस्तान की भी अपनी विशेषता है।

विराटा की पद्मिनी का हाल सुनकर दिलीपनगर के रोगी राजा के मुंह में पानी भर आता है। आज्ञा देते हैं: "उसे हमारे डेरे पर भिजवा दो लोचनसिंह, हम उसकी रक्षा करेंगे।" लोचनसिंह विनती करता है, "हकीम जी से महाराज पूछ लें कि महाराज को ऐसी बातों की ओर ध्यान देना नहीं चाहिये।' "गढ़ कुंडार" का नागदेव डींग हाँकता है: "तब हेमवती को जैसे बने, तैसे अमावस्या की रात को बस्ती में से उठा कर किले में लाना होगा, चाहे एक लक्ष प्राणों का बलिदान इस काम में भले ही हो।" स्त्रियों का अपहरण करने में और प्रजा का रक्त चूसने में हिन्दू-धर्म और इस्लाम की पताका फहराने वाले हिन्दू और मुसलमान सामन्त एक दूसरे से होड़ करते हैं। प्रजा को एक तरफ लुटेरे लूटते हैं,

दूसरी तरफ उसके रक्षक—और धर्मरक्षक भी—लूटते हैं। "मृगनयनी" में वर्माजी किसानों की दशा का चित्रण करते हुए कहते हैं : "सब किसानों ने देवता का बीसवाँ और ब्राह्मण का तीसवाँ, यानी पुजारी को कुल बारहवाँ हिस्सा भेंट कर दिया। सब मिलाकर अन्न का चौथा भाग किसानों के पास से निकल गया। तीन-चौथाई फिर भी बचा रहा। उन्होंने मन ही मन कहकर संतोष कर लिया, जो बाहर के लुटेरे सबका सब ले जाते तो गाँठ में कुछ भी न बचता।"

मध्यकालीन भारत में विदेशी आततायियों की सफलता का रहस्य यह देशी सामन्तों का उत्पीड़न है। यह देशी सामन्त सबसे अधिक विदेशी लुटेरों के सहायक भी हुए।

"मृगनयनी" में एक किसान कहता है : "हम किसान लोग किसी से नहीं लड़ते। लड़ाई राजपूतों, तुर्कों और पठानों का काम है।" मध्य-कालीन भारत में हिन्दू सामन्तों की पराजय और तुर्कों के साथ उनकी मैत्री का रहस्य यहाँ छिपा हुआ है। प्रजा की रक्षा करने के नाम पर उन्होंने उसे लूटा और सताया था; इसीलिए प्रजा भी उनकी ओर से तटस्थ हो रही थी। सामन्ती युद्धों और लुटेरों के आक्रमणों से किसानों की जो दशा हुई थी, उसका मार्मिक वर्णन करते हुए वर्मा जी "विराटा की पद्मिनी" में कहते हैं : "उन्हें पेट के लिए, राजा के लगान के लिये, लुटेरों की पिपासा के लिए खेतों की रखवाली करनी थी। आशा तो न थी कि चैत-बैशाख तक खेती बची रहेगी।" मध्यकालीन किसान क्यों ईश्वर और भाग्य का सहारा लेते थे, इस पर वर्मा जी ने इन दो वाक्यों में एक ऐतिहासिक सचाई हमारे सामने रखी है, "जहाँ आशा नहीं होती, वहाँ निराशा ईश्वर के पैर पकड़वाती है। यदि बच गये, तो कृतज्ञ हृदय ने एक आँसू डाल दिया, और बह गये तो भाग्य तो कोसने के लिए कहीं गया ही नहीं।" इधर अध्यात्मवाद और "भारतीय संस्कृति" की अलौकिक विशेषताओं पर जो रिमों कागज खर्च किया गया है, उस सबसे ज्यादा सारगर्भित वर्मा जी के ये ऊपरवाले दो वाक्य हैं।

जब प्रजा की यह हालत थी, तब बड़े-बड़े राजा और नवाब अपनी विस्तृत भूमि और दीर्घ सम्पत्ति के लिये रोज-रोज खैर मनाते थे, अपने अथवा पराये हाथों अपने मुकुट की रक्षा में व्यस्त रहते थे और उस व्यस्त अवस्था में बहुधा दिन में दो-चार घण्टे नाच-रंग, दुराचार और कदाचार के लिए भी निकाल लेते थे।

यह वर्ग अपने मुकट और सिंहासन के लिए लड़ता है, देश के लिए लड़ती है तो साधारण जनता। झाँसी का एक निवासी एक पठान से पूछता है: "तुम्हारा कौन मुलक है खान ?" पठान जवाब देता है: "झाँसी हमारा मुलक है बाबा, तुम्हारा मुलक ?" जब उसे मालूम होता है कि वह आदमी भी झाँसी का रहने वाला है, तब पठान उसे भाई मानता है। फिर वह निवासी कहता है: "बाई साहब का राज्य है खान।" और वह पठाम उत्तर देता है: "बेशक है। और हमारा तुम्हारा बी।" रानी लक्ष्मीबाई ने जनता में यह प्रेरणा भर दी थी कि राज्य तुम्हारा है, स्वराज्य के लिए लड़ना है। इसीलिये जब उत्तरी फाटकों पर अंग्रेजों का हमला हुआ, तब "ठाकुरों, काछियों, कोरियों और तेलियों की चतुरता तथा बहादुरी के कारण वहाँ अंग्रेज कुछ नहीं कर पा रहे थे।" जिन लोगों की रक्षा का भार सामंतों ने अपने ऊपर ले रखा था और जिन्हें वे चुपचाप अंग्रेजों के हवाले कर देते, उन साधारणजनों ने अपनी रक्षा का भार खुद संभाल लिया था। इसीलिये अँग्रेजों को झाँसी में लोहे के चने चबाने पड़े।

इसके विपरीत सामन्ती वर्ग से ही अंग्रेजों के सहायक पैदा हुए। वर्मा जी लिखते हैं: "राजा गंगाधरराव ने कई मौकों पर अङ्गरेजों की बहुत सहायता की।" इन्हीं गंगाधरराव ने कुछ अपराधियों के लिये बिच्छू से कटवाने का विधान कायम किया था। अंगारों से डाकुओं के अंग जलवाना भी विधान में शामिल था। "कट्टे में पैरों का डालना, भौंजना एक साधारण बात थी। गहन अपराधों में हाथ-पाँव कटवा डालने की जन-सम्मत प्रथा जारी थी।" इन गहन अपराधों की एक

मिसाल यह है कि राजा ने खुदाबख्श को देश निकाला दिया है। प्रहरी अनजाने में उसे नाटकशाला में चला आने देता है। उस प्रहरी को सजा दी गयी, बिच्छू से डसवाने की। इस आतंक के जरिये ये सामन्त— उस वर्ग के प्रतिनिधि जिसकी मौत का परवाना इतिहास कभी का लिख चुका था—असंगठित किसानों को अपने शासन में रखते थे और उनकी "रक्षा" करते थे। उपन्यास में सामन्तों की इस पतित संस्कृति का चित्र देकर वर्मा जी ने जनता की वीरता को और उभार दिया है। यह उनकी कलात्मक सूझबूझ का प्रमाण है।

गंगाधर राव और लक्ष्मीबाई में यह अंतर था कि "झाँसी की जनता उनसे भयभीत थी, परन्तु अपनी रानी पर मुग्ध थी।" इसलिए गंगाधर रावने जहाँ अँग्रेजों की मदद की थी, वहाँ रानी ने उनके दाँत खट्टे किये।

तांत्या टोपे रानी से कहते हैं: "राजाओं को अपने सरदारों और प्रजासे प्रणाम लेनेमें सुखकी इति अनुभव होती है। हास-विलास और सुरापान में मस्त रहते हैं।" इससे पता चलता है कि यह वर्ग किस तरह मौतकी आखिरी घड़ियाँ गिन रहा था। इसी वर्ग में अंग्रेजों ने अपने सहायक तलाश किये।

एक झांसी-निवासी अंग्रेजों के बारे में कहता है: "बनिये बनकर आये और ठाकुर बनकर जम रहे हैं।" दूसरा जबाब देता है, "इन राजों, नवाबों ने चौपट किया।"

तांत्या राजस्थान के बारे में कहते हैं."वहाँ के अधिकांश राजा अपने को अंग्रेजों की सहायता के कारण ही निरापद समझते हैं।" पंजाब की "रियासतों के राजा हाथ आई रोटी को किसी प्रकार भी फेंकने को तैयार नहीं।" हैदराबाद में "नवाब अन्य रईसों की तरह अंग्रेजों के आतंक से दबा हुआ है।" हिन्दू मुस्लिम सिख—सभी धर्मों के सामन्त अंग्रेजों के पक्षपाती बन रहे थे। यह वर्ग सन सत्तावन में प्रजा का उत्पीड़क ही न था, एक देशद्रोही वर्ग भी बन गया था। यह इस बात का भी प्रमाण है कि सन् सत्तावन का संग्राम "प्रगतिशील" अंग्रेजों के खिलाफ अपने अधिकारों के लिये मुट्ठी भर सामन्तों का युद्ध न था। उसकी मूल

प्रेरक शक्ति भारत की जनता थी। और जब यह जनता लड़ रही थी, तब "रात को राव साहब बानपूर और शाहगढ़ के राजा तथा बांदा के नबाव की इच्छा नाच देखने की हुई।" यही लोग थे जिन्होंने रानी लक्ष्मीबाई को सेना पति न बनने दिया था। वर्माजी ने इस पर टिप्पणी की है, "सरदारों ने रानी को प्रधान सेनापति न बनाकर इतिहास में अपनी पराजय पेशगी लिख दी।"

इसी वर्ग के अत्याचार से पीड़ित होकर नारायण शास्त्री अपनी प्रेमिका से कहता है, "चलो छोटी, ऐसी जगह चलें जहाँ पेशवा का अत्याचार पीछा न कर सके।" यह आशा—ऐसी जगह चलें जहाँ आत्याचार पीछा न कर सके—यह आशा भारतीय जनता के हृदय में सदा जाग्रत रही है। उसी आशा के पूरे होने के अब दिन आरहे हैं।

वर्मा जी ने दिखलाया है कि यह सामन्ती वर्ग केवल शस्त्रबल से जनता पर शासन नहीं करता; वह शस्त्रबल, धर्म, पुजारियों और मंदिरों की भी सहायता लेता है। देवता और ब्राह्मण का अंश देने में आगा-पीछा करते हुए किसान से पुजारी कहता है, "उसके देने में आनाकानी करने से यह लोक तो बिगड़ेगा ही, परलोक से भी हाथ धो बैठोगे। एक पूछता है, "फिर हम क्या खायँगे", पुजारी जबाव देता है "भगवान देंगे। मैं भजन जो करूंगा"। जब किसान उसे याद दिलाता है कि भजन करने पर भी दिल्ली के सुल्तान ने तमाम खून बहाया, घर और खेत चौपट कर दिए, तब पुजारी उसे मूर्ख और नास्तिक कह कर गाली देने लगता है। कम्युनिस्ट शब्द तब ईजाद न हुआ था, वर्ना शायद वह उसे यह गाली भी देता।

अटल जब पुजारी से पूछता है कि अत्याचारियों का सामना कैसे किया जाय, तब वह जबाव देता है, धर्म से। उसका विचार है, धर्म के क्षीण हो जाने से, वर्णके बिगड़ जाने से ही अत्याचारी सिर पर टूट पड़े हैं। इसका अर्थ यह था कि जनता और भी निरस्त्र और निर्धन रह कर सामन्ती जुए के नीचे पिसती रहे। इन पुरोहितों के धर्म का यही

रहस्य था।

यही पुजारी अटल और लाखी के प्रेम का भी सबसे बड़ा शत्रु है। उसकी सम्मति में राजा चाहे जिस जाति की और जितनी रानियाँ रखे लेकिन अटल जैसा साधारण जन वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन करके लाखी के साथ नहीं रह सकता। "टूटे कांटे" में वर्मा जी ने सामन्ती युद्धों का जन-जीवन पर प्रभाव, जनता की आशाएं, धार्मिक अंधविश्वास और भी खूबी से चित्रित किये हैं। इस उपन्यास की नायिका नूरबाई सामन्ती चमक-दमक देखने के बाद एक साधारण सिपाही के साथ जीवन बिताने में अपनी कला की सार्थकता देखती है। सामन्तों के परस्पर युद्धों के बीच मोहन और शुबराती नामक दो सिपाहियों की गाढ़ी मैत्री अमावस के आकाश में नक्षत्र जैसी चमकती है। मोहन अपने से यह पूछने लगा है, क्यों लड़ रहा हूँ? किसके लिए लड़ रहा हूँ? जब वह बादशाह के बारे में सोचता है तब उसे "नाच रंग शराब और किसानों की लूट मार ही अधिक दिखलाई पड़ती थी।"

नारायण शास्त्री की तरह मोहन की स्त्री रोनी भी सोचती है, "यहाँ गुजर न होती दिखेगी तो और कहीं चले जायँगे। कहीं भी जहाँ यह सत्यानाशी राज न होगा।" रोनी कुछ और भी सोचती है, इन कानूनगो ओं जमादारों और सिपाहियों का मिटाने वाला नहीं पैदा होता कोई? जैसे कन्हैयाने कंस को मिटाया था। नूरबाई इसी तरह सोचती है "मैं कहीं दूर देश चली जाऊंगी। जहाँ बादशाह या नादिरशाह का हाथ न पहुँच सकता हो।" और मोहन सोचता है, "इतना ऊधम इतना अत्याचार कि जिसका ठिकाना नहीं। मन चाहता है बहुत से अच्छे दृढ़ और पक्के चाल चलन के लोगों को इकट्ठा करूँ और इन सबको ढाह दूं।"

"टूटे कांटे" सामन्ती युद्धों और अंधविश्वासों के नीचे पिसती हुई जनता का चित्र है। साथ ही वह जनता के उभरते हुए रोष, एक नये जीवन के लिए उसकी उत्कट आकांक्षाओं का चित्र भी है। यहां भी "मृगनयनी" के पुजारी की तरह एक महात्मा हैं जो अपने तेज से ही

आक्रमणकारियों को भस्म कर देने का दावा करते हैं और अन्त में किसी को भस्म न करके स्वयं मारे जाते हैं। यहाँ भी मोहन नूर और शुबराती को पग पग पर जाति और धर्म के भेद-भाव का सामना करना पड़ता है। लेकिन उनकी प्रीति अचल रहती है।

इस तरह वर्मा जी ने सामन्त वर्ग और उसके सहायकों पुजारियों, पुरोहितों, जाति, धर्म और वर्ग के भेद-भाव की खरी आलोचना की है। ऐतिहासिक उपन्यासों में इस सामन्तविरोधी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हिंदी की अपनी विशेषता है।

[४]

वर्मा जी इस युग के सबसे अच्छी कहानी कहने वाले हैं। जहाँ और उपन्यासकार कथानक की ओर उदासीन रहने लगे हैं और रस के लिए तरह तरह की रसिकता का सहारा लेने लगे हैं, वहाँ वर्माजी अपनी सरस कथा से पाठक का मन बांधे रहते हैं और अन्त तक उसकी उत्सुकता ताज़ी रखते हैं। वह सामंतवर्ग और जनसाधारण दोनों का चित्रण करते हैं, इसलिए उन्हें दो या इससे अधिक पात्रों को अलग-अलग अपना केन्द्रबिन्दु बनाना पड़ता है। कथा के अनेक सूत्र बिखरे हुए और फिर भी एक दूसरे से जुड़े हुए चलते हैं। कुछ लोग इसे दोष समझते हैं। उन्हें यह दोष प्रेमचन्द में भी दिखाई देता है। लेकिन हरिप्रसन्न और सुनीता या शैल और हरीश की प्रेम कहानियाँ लिखना जितना आसान है, उतना कथा के अनेक सूत्र बिखेरना और समेटना नहीं। कथा की एक सूत्रता के लिए कुछ आलोचकों का हठ वैसे ही है जैसे एलीजाबेथ युगीन अँग्रेजी नाटकों में समय और स्थान को पाबंदी। की माँग कथानक की बहुसूत्रता से वर्मा जी उपन्यासों में वह वैचित्र्य, सरसता और चित्रण की विविधता ला सके हैं जो तथाकथित सुगठित कथानकों में सम्भव न होती।

कथा का विस्तार करने में वर्मा जी सबसे प्रभावशाली दृश्यों को आखीर के लिए रखते हैं। क्लाइमैक्स रचने की दृष्टि से उनका कौशल सराहनीय है। "मृगनयनी" में सबसे प्रभावोत्पादक वे अन्तिम पृष्ठ हैं

जहाँ लाखी अपने देश के लिए अन्तिम युद्ध करती हुई खेत रहती है। "मृगनयनी" में प्रभावोत्पादक दृश्यों की कमी नहीं, फिर भी लाखी की अन्तिम विदा का दृश्य इतना करुण है कि वह सब पर छा जाता है और ऐसा लगता है मानों सारा घटनाचक्र इसी दृश्य की ओर पाठक को खींच कर ला रहा था।

बहुत ही प्रभावोत्पादक "गढ़ कुंडार" का वह अंतिम दृश्य है जहाँ अग्निदत्त एक नवजात शिशु के लिए युद्ध करता हुआ खेत रहता है। चाँदनी रात में कुसुम के पौधों के बीच एक स्त्री पड़ी कराह रही है। अग्निदत्त पास जा कर पूछता है-कौन हो? वह जबाव देती है—"मुझे मारो मत, मेरे आभूषण ले लो। मैं गर्भवती हूँ और मेरे स्वामी न जाने कहाँ हैं।" अग्निदत्त उसे पहचान लेता है। वह उसी की प्रेमिका मानवती है। अग्निदत्त उसे इस दशा को पहुँचाने के लिए अपने को कोसता है। तभी स्त्री के पेट में पीड़ा बहुत बढ़ जाती है। अग्निदत को मालूम हो जाता है कि मानवती बच्चा जनने वाली है।

"उसने अपना कवच और कपड़े उतारकर बिछा दिये, केवल धोती पहने रहा। रोना चाहता था परन्तु हृदय में आँसू की अक बूँद भी न थी। उसी समय मानवती ने बच्चा जना जिसको अग्निदत ने अपने पहले से बिछाये हुए कवच और कपड़ों पर लिटा लिया। मानवती अचेत हो गई, बच्चा रोने लगा।"

कितनी संयत कला है, कैसा सीधा-सादा वर्णन है, कैसा मर्म को छूने वाला दृश्य है। यहाँ पाठक का विवेक परास्त हो जाता है; वह निरस्त्र होकर केवल श्रद्धा से सिर झुका सकता है।

वहीं दलपति सिंह अपने साथियों के साथ आता है। बुन्देले और खंगार एक दूसरे के रक्त के प्यासे हैं। वहाँ एक घायल खंगार सैनिक पड़ा कराह रहा है। दलपति अपने साथियों से बताता है: "मारो इस खंगार को। उतार लो आभूषण इस स्त्री के।" अग्निदत्त तुरन्त खड़ा हो जाता है और स्त्री और बच्चे की रक्षा के लिए तलवार खींच लेता है।

"गोरे-साँवले शरीर पर एकाध घाव से रक्त रेखाओं में बहकर फैल गया था। छिटकी हुई चाँदनी में उसका चमकता हुआ खड्ग और दमकता हुआ लोहू-लुहान नंगा शरीर ऐसे मालूम पड़ा जैसे कोई तारा पृथ्वी पर टूट कर गिरा हो।"

दलपति अग्निदत्त को पहचान लेता है। अग्निदत्त के मना करने पर वह कहता है कि मैं तो "इस जनी के गहने और इस बेईमान सिपाही के प्राण लेकर ही यहाँ से जाऊँगा।" यह है सामन्तवाद का घृणित और नग्न रूप; न उसे स्त्री पर दया आती है, न नवजात शिशु पर। अग्निदत्त दलपति से तो निपट लेता है लेकिन वहाँ जो और बुन्देले आ जाते हैं, उनसे लड़ता हुआ मारा जाता है। उधर किले से आवाज़ आती है, बुन्देलों की जय। इधर घायल अग्निदत्त के पास नवजात शिशु के रोने का स्वर सुनायी देता है।

यह दृश्य कथा की दृष्टि से ही प्रभावशाली नहीं है, उसका गहरा मानववाद भी अद्वितीय है।

यह मानववाद, सामंती युद्धों में पिसते हुए साधारण जनों के प्रति यह करुणा वर्मा जी की सफलता का रहस्य है। उसी के आधार पर मराठों, मुगलों, जाटों आदि के युद्ध और नादिरशाही के बीच उन्होंने "टूटे काँटे" में एक साधारण मराठा मुसलमान सैनिक शुबराती और जाट सिपाही मोहन की मैत्री का चित्रण किया है। सामन्त लड़ें, हिन्दू-धर्म और इस्लाम के ठेकेदार लड़ें, लेकिन भारत के जनसाधारण की मैत्री और एकता अमर रहेगी।

इसी आधार पर उन्होंने झाँसी में पठानों की वीरता, सुन्दर-मुन्दर, जूही, मोतीबाई के रणकौशल, अंग्रेजी आतंक की बर्बरता, जलते हुए पुस्तकालय और नगर की लूट, घोड़े पर सवार मुँह में रास दबाये दोनों हाथों से तलवार चलती हुई रानी लक्ष्मीबाई के भव्य साहस के अमर चित्र आँके हैं।

"मृगनयनी" में एक जगह लाखी और उसकी सखी के साहस का बखान सुनकर मानसिंह कहते हैं: "इन दोनों कुमारियों ने तो रामा-

यण महाभारत का युग सामने लाकर खड़ा कर दिया।"

उन महाकाव्यों की संस्कृति भारत के जनसाधारण में आज भी जीवित है। यह संस्कृति नारी की स्वाधीनता, अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध और गम्भीर मानव-प्रेम की संस्कृति है। शताब्दियों तक सामन्तों और पुरोहितों के शस्त्रों और शास्त्रों की धार वीरता और प्रेम के भाव जनता के हृदय से निमूर्ल नहीं कर सकी। वर्मा जी पर भी उस संस्कृति की छाप है। इसीलिए वर्तमान युग में पूँजीवादी नेता जब निष्क्रिय प्रतिरोध की दुहाई देकर बारबार साम्राज्यवाद से समझौता करते रहे हैं, वर्मा जी ने लाखो, मृगनयनी, अग्निदत्त, गौसखाँ, लक्ष्मीबाई, सुबराती और मोहन जैसे पात्रों की सृष्टि की है जो अपनी पूरी शक्ति से अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करते हैं।

यह स्वाभाविक था कि वर्माजी की सहानुभूति मध्यकालीन भारत के भक्ति-आन्दोलन से हो : यह जनता का अपना सांस्कृतिक आन्दोलन था। जन-जीवन में उसकी कौन सी भूमिका थी, जनता की वह कौनसी प्यास बुझा सकता था जिसे पंडे-पुजारी न बुझा सकते थे, इसका विशद चित्रण उन्होंने "टूटे काँटे" में किया है। वर्माजी उसी अजस्र सांस्कृतिक धारा की एक लहर हैं जो व्यास और बाल्मीकि से लेकर तुलसी-सूर-कबीर-जायसी से होती भारतेन्दु-प्रेमचन्द-निराला तक बहती रही है। निःसन्देह वह हमारी संस्कृति के एक प्रमुख निर्माता हैं।

वर्माजी की कला यथार्थवाद और रोमाण्टिक कल्पना का सम्मिश्रण है। नारी-चित्रण में विशेषकर उनकी रोमाण्टिक कल्पना खुल कर उड़ान भरती है। परन्तु यह सही है कि उपन्यास की मूल सामग्री वह यथार्थ जीवन से लेते हैं। "गढ़ कुंडार" में अर्जुन कुम्हार ही एक वास्तविक दुर्जन कुम्हार का प्रतिरूप नहीं है। उन्होंने अनेक पात्र आस-पास के यथार्थ जीवन से ही लिये हैं। इससे भी बढ़कर यह कि अपने पात्रों में उन्होंने जिन नैतिक गुणों का चित्रण किया है, वे हमारी जनता के ही गुण हैं। और सामन्त वर्ग की जिस जीर्ण मानव-विरोधी संस्कृति की उन्होंने आलोचना की है, वह भी अभी भारतीय यथार्थ से

मिटी नहीं है।

भारतीय जनता का इतिहास प्रेम और वीरता की गाथाओं से समृद्ध है। विशेषकर अंग्रेजों के विरुद्ध उसने जो लड़ाइयाँ लड़ी हैं, उनका चित्रण करने के लिए अनेक "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" जैसे उपन्यासों की आवश्यकता होगी। वर्मा जी के पास मौलिक सामग्री की कमी नहीं। हर उपन्यास में नये दृश्य, नये चरित्र मिलते हैं। इस सामग्री की बहुलता के कारण ही शायद वर्मा जी को काफी तेजी के साथ बहुत से उपन्यास लिखने पड़ रहे हैं। इससे कहीं-कहीं भाषा में बुन्देलखंडी भूमि की सी अनगढ़ सतह आ जाती है। सुन्दर, मुन्दर, जूही, मोतीबाई जैसे पात्रों से दो चार बार मिलकर संतोषनहीं होता, इच्छा होती है कि कुछ ऐतिहासिक वर्णन चाहे कम कर दिया जाता पर इन पात्रों को विकसित होकर हमारे सामने आने का अधिक अवसर मिलता। लेकिन इस तरह का काम कोई साधारण कलाकार भी कर सकता है। हमें खाई-खड्डों के साथ विंध्याचल पसंद है, रंग चुनकर सँवारे हुए 'मनोवैज्ञानिक' घर नहीं।

इसमें आश्चर्य नहीं कि हमारे कुछ आलोचकों को घोड़ों की तरह खिंचे हुए स्तनों का वर्णन, इतिहास के नाम पर जनता के संघर्षों का भुलावा और अर्धनग्न नायिकाओं के चित्र बहुत भले मालूम पड़ते हैं। इतिहास की इस "द्वन्द्वात्मक" व्याख्या और चोली-चीर-उतारोवाद की "मनोवैज्ञानिक" गहराई की प्रशंसा करते हुए वे नहीं अघाते। उन्हें याद रखना चाहिए कि इतिहास का निर्माण करने वाली जनता है, संस्कृति को गढ़ने वाली भी जनता है। उसके एक अंश ने अभी वर्माजी को अपनाया है। जब वह शिक्षित होगी, कामकाज के साथ उपन्यास पढ़ने का अवकाश भी पा सकेगी—और साहित्य कुछ "सहृदय" रस-मर्मज्ञों की संपत्ति न रहेगा—तब वह उनके नायिका-भेद को उठाकर म्यूज़ियम में बंद कर देगी और वर्माजी के साहित्य को इस तरह अपनायेगी, जिस तरह एक स्वाधीन देश की सुखी जनता ही अपने जन-कलाकारों को अपनाती है। उस दिन को लाने में स्वयं वर्माजी की कला की एक महत्वपूर्ण भूमिका पूरी करेगी।

इसीलिए उनकी कला <u>आने वाले</u> युग की बानगी भी है।

महादेवी वर्मा और आलोचना-साहित्य की समस्याएँ

श्रीमती महादेवी वर्मा के साहित्य पर इतना लिखा जा चुका है और उन्होंने स्वयं साहित्य की समस्याओं पर इतना लिखा है कि आज उनके सम्बन्ध में और कुछ लिखना आलोचना-साहित्य की समस्याओं का उल्लेख किये बिना संभव नहीं है। महादेवी जी छायावाद के मध्याह्नकाल से और अपने जीवन के उषःकाल से साहित्य-रचना करती आई है; छायावाद और महादेवीजी के साहित्य में घनिष्ठ संबंध होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध की रूपरेखा क्या है, किस हद तक छायावाद उनके साहित्य से बल-संबल पा सका है या निर्बल हो गया है, यह आधुनिक आलोचना साहित्य की नगण्य समस्या नहीं है। इस समस्या पर हिन्दी के गण्य-मान्य आलोचक एकमत हैं—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में यहाँ दो-एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

छायावादी साहित्य और महादेवी जी की रचनाओं के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए नगेन्द्रजी कहते हैं—

"जैसा मैंने एक और स्थान पर भी कहा है, महादेवी के काव्य में छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। छायावाद की अन्तर्मुखी अनुभूति, अशरीरी प्रेम जो बाह्य-तृप्ति न पाकर अमांसल सौन्दर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य चिन्तन (अनुभूति नहीं) तितली के पंखों और फूलों की पंखड़ियों से चुराई हुई कला, और इन सबके ऊपर स्वप्न सा पुरा हुआ एक वायवी वातावरण में सभी तत्व जिसमें घुले मिलते हैं, वह है महादेवी की कविता।

महादेवी ने छायावाद को पढ़ा नहीं है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।" (विचार और अनुभूति; पृ० १३०)

इस धारणा के विपरीत श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार यह है—

"हिन्दी में महादेवी जी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था, किन्तु आरम्भ में ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए। इस व्याख्या में आये 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थ-गंभीर शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे।" ('यामा' का दार्शनिक आधार)।

नगेन्द्रजी और वाजपेयीजी की धारणाओं का अन्तर स्पष्ट है। नगेन्द्रजी को महादेवी जी के काव्य में छायावाद का शुद्ध रूप मिलता है; वाजपेयीजी को उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः रिक्त दिखाई देती हैं।

इसे हम साधारण मतभेद कहकर टाल नहीं सकते।

वाजपेयी जी ने छायावाद की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार अंग्रेज कवि स्कॉट और बायरन छायावाद के सीमान्त पर दिखाई देते हैं तो वर्ड्‌स्वर्थ भी छायावाद के दूसरे सीमान्त पर ठहरा हुआ प्रकृत छायावादी नहीं मालूम होता। अंग्रेजी साहित्य में वाजपेयीजी के अनुसार प्रकृत छायावादी केवल शेली है जो "प्राकृतिक सूक्ष्म सौन्दर्य भावना का एकमात्र अधिष्ठाता" है (उप०)। लेकिन वाजपेयी जी ने जिस कारण स्काट और बायरन को छायावाद के सीमान्त पर रखा है,

उसपर विचार करने से शेली का भी आधे से ज्यादा साहित्य उसी सीमान्त पर ठहरेगा।

बायरन और स्कॉट छायावाद के सीमान्त पर इसलिए हैं कि उनका सौन्दर्य सूक्ष्म नहीं है बल्कि "साकार होकर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है। इस दृष्टि से शेली की अनेक कथाएँ और आख्यायिकाएँ भी छायावाद के सीमान्त पर ठहरेंगी।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहासकार रोमाण्टिक साहित्य की परिधि इससे ज्यादा विशद आँकते आये हैं। इतिहास ने रोमाण्टिक साहित्य की विशेषताएँ निश्चित कर दी है; अब यह माँग करना दुराग्रह होगा कि रोमाण्टिक साहित्य हमारी धारणा के अनुसार यों होना चाहिए था।

अंग्रेजी के रोमाण्टिक साहित्य और हिन्दी के छायावादी साहित्य में महत्वपूर्ण भेद है। शेली और वर्ड्स्वर्थ के रचनाकाल से पहले १६-१७ वीं सदी में शेक्सपियर, मिल्टन आदि सामन्ती विचारधारा के खिलाफ एक क्रांति कर चुके थे। १६ वीं सदी के आरम्भ में औद्योगिक पूँजीवाद के प्रसार से मजदूर वर्ग का जीवन संघर्ष तीव्र हो उठा था और उस समय की प्रगतिशील विचारधारा पूंजीवादी शोषण से टक्कर लेने लगी थी। रोमांटिक साहित्य में जहाँ पलायन है, वहाँ वह इस पूँजी वादी शोषण से संघर्ष न करने या उससे समझौता करने का फल है। हिन्दी का छायावादी साहित्य सामन्त-विरोधी औद्योगिक क्रान्ति के बाद का साहित्य नहीं है। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्षकाल का साहित्य है। उसमें सबसे सशक्त स्वर देश की स्वाधीनता और जनतंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा का स्वर है।

अंग्रेजी रोमाण्टिक साहित्य के सबसे प्रगतिशील कवि शेली की विचारधारा अपना अग्रसर रूप मजदूरों का आव्हान करते हुए प्रकट करती है कि वे पूंजीवादी सत्ता के बदले अपनी सत्ता स्थापित करें। "मास्क आफ अॅनार्की" नाम की रचना में शेली कहता है—

"Rise like lions from your slumber,

In unvanquishable number;
Shake to earth your chains like dew,
which in sleep had fallen on you,
Ye are many, they are few."

("नींद छोड़कर शेरों की तरह उठो, अजेय संख्या में उठो। नींद में जो जंजीरें तुमने पहन ली थीं, उन्हें झटक कर धरती पर गिरा दो। तुम बेशुमार हो; वे मुट्ठी भर हैं।")

शेली की चेतना समाजवाद की ओर उन्मुख थी। जैसा कि मार्क्स ने शेली के बारे में लिखा था, वह जीवित रहता तो समाजवादी होता।

हिंदी के छायावादी कवियों में सबसे आगे बढ़ी हुई चेतना साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी क्रान्ति की ओर उन्मुख है। निराला के "बादल-राग" में वह यों प्रकट हुई है—

'रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना-अङ्ग से लिपटे भी
आतंक-अङ्क पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार!"

अंग्रेजी रोमाण्टिक साहित्य का एक सीमान्त समाजवादी विचार-धारा को छूता है तो दूसरा आदर्शवाद (Idealism) की विभिन्न धाराओं में डूबा हुआ है। हिन्दी के छायावादी साहित्य का एक सीमांत साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी विचारधारा को छूता है तो दूसरी ओर सामंतवाद का समर्थन करने वाली अनेक आदर्शवादी धाराओं में डूबा हुआ है। इनके अतिरिक्त छायावादी या रोमाण्टिक साहित्य के दूसरे

सीमान्त निर्धारित करना एक इतिहास-विरोधी कार्य होगा।

वाजपेयी जी ने अङ्गरेजी के रोमाण्टिक साहित्य और हिन्दी के छायावादी साहित्य के महत्वपूर्ण भेद का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने जो सीमांत निश्चित किये हैं, वे भी विज्ञान-सम्मत नहीं हैं। "मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी।" उनका यह भय निराधार नहीं है।

नगेन्द्रजी के लिये सीमान्तों का झगड़ा नहीं है। अन्तर्मुखी अनुभूति, अमांसल सौन्दर्य, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिन्तन, पंखों और पँखुड़ियों से चुराई हुई कला, वायवी वातावरण—ये महादेवीजी के काव्य की विशेषताएँ हैं।

ये विशेषताएँ किस तरह उत्पन्न हुईं, इस सम्बन्ध में नगेन्द्र जी लिखते हैं—"सामयिक परिस्थितियों के अनुरोध से जीवन से रस और मांस न ग्रहण कर सकने के कारण वह एक तो वाञ्छित शक्ति का संचय नहीं कर पायीं, दूसरे एकान्त अन्तर्मुखी हो गईं। इस प्रकार उसके आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है?"

अगर मानसिक दमन और अतृप्तियों से ऐसी कविता रची जा सके जो सुन्दर हो और साथ ही शुद्ध छायावादी भी, तो दमन और अतृप्तियों का स्वागत क्यों न किया जाय?

अगर छायावादी कविता की विशेषताएँ मानसिक दमन और अतृप्तियों से उत्पन्न हुई हैं तो छायावादी आलोचना की विशेषताओं का क्या कोई दूसरा स्रोत है?

नगेन्द्रजी पहले तो यह मानते हैं कि महादेवी जी की कविता के आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, फिर उनकी धरणा यह भी है कि महादेवीजी के काव्य में हमें छायावादी का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। तीसरे इस अतृप्तिवाद को और विराट् रूप देते हुए वह समस्त काव्य और ललित कलाओं को उसी के अन्दर समेट लेते हैं। अतृप्त कामवासना और साहित्य के

सम्बन्ध में उनकी उक्ति है :

"और वास्तव में सभी ललित-कलाओं के, विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिये स्थान नहीं है।" ("दीपशिखा")

इस तरह नगेन्द्रजी के लिये न सिर्फ दीपशिखा, न सिर्फ महादेवी जी का साहित्य, न सिर्फ छायावादी काव्य, वरन् तमाम ललित कलाएँ और समूचा प्रणय-काव्य अतृप्त काम-प्रेरणा से उत्पन्न होता है।

यूरोप में एक वर्ग ऐसे अवकाश-भोगी लोगों का है जो जीवन में कर्म करने से विमुख हैं। उसका अधिकार दूसरों के कर्मफल पर है; कर्म करने का उत्तरदायित्व वह अपने लिये नहीं मानता। इस वर्ग ने ऐसा जीवन दर्शन उत्पन्न किया है जिसके अनुसार मनुष्य की तमाम सामाजिक और साहित्यिक क्रियाएँ कामवासना से प्रेरित दिखाई देती है। यह वर्ग सामाजिक विकास की शक्तियों और उत्पादन करने वाले श्रमिक वर्ग का ऐसा बैरी बन गया है, श्रम से वह इतनी दूर जा पड़ा है कि सिवा काम वासना और उसकी तृप्ति के लिये उसके जीवन में कोई महान् उद्देश्य नहीं रह गया। हिन्दुस्तान में साम्राज्य वाद के समर्थक वर्गों द्वारा पोषित लेखक यूरोप की इस पतित पूँजीवादी विचारधारा को यहाँ के सामंती नायिका भेद से मिला देते हैं और कहते हैं–देखिये, दोनों में कितना गहन मनोविज्ञान है। अतृप्त काम वासना से सत्यं, शिवं, सुन्दरं सुलभ होते हैं। सब तज हरि भज। अतृप्ति के बिना साहित्य का निर्माण असंभव है।

इस व्याख्या में लगे हाथ एक और लाभ यह है कि वह शाश्वत है और साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, इस तरह के किसी अशाश्वत वाद-विवाद के झमेले में पड़ने की जरूरत भी नहीं रहती।

निस्सन्देह अतृप्ति की भावना छायावादी कविता में मिलती है और वह महादेवी जी की रचनाओं में भी विद्यमान है लेकिन क्या छायावाद काव्य की मूल प्रेरणा वही है? यदि मूलप्रेरणा वही हो और छायावादी कविता वायवी वातावरण के स्वप्न बुनने के अलावा और कुछ न दे

तो वह अवकाश भोगी वर्गों के अलावा कामकाजी जनता के लिये ज्यादा लाभदायक सिद्ध न होगी। क्या महादेवी जी की समूची कविता इसी तरह की है ?

महादेवी जी के काव्य-साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी आलोचकों ने साधारणतः उसके पीड़ावादी, पलायनवादी तत्वों पर दृष्टि केन्द्रित की है। कोई इन तत्वों को शाश्वत काव्य-वस्तु सिद्ध करता है, कोई उन्हें लोकमंगल के अनुकूल बतलाता है, कोई उन्हें समाज-विरोधी कहता है। उन तत्वों के मूल्यांकन में अन्तर है। लेकिन इस बारे में सभी एकमत मालूम होते हैं कि महादेवी जी की काव्यवस्तु का निर्माण इन्हीं पीड़ावादी पलायनवादी तत्वों से हुआ है।

श्री विनयमोहन शर्मा महादेवी जी की अन्तर्मुखी वृत्ति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

छायावाद ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन। प्रगतिवाद (साम्य-वाद) के नारे से प्रभावित हो जब छायावाद के मान्य कवियों ने अपनी आँखें पोंछकर भीतर से बाहर झांकना प्रारंभ कर दिया और अनन्त की ओर से दृष्टि फेर कर मार्क्स पर उसे केंद्रित कर दिया तब भी महादेवी की आँखें भीगती रहीं, हृदय सिहरन भरता रहा, ओठों की ओट में आहें सोती रही और मन 'किसी निष्ठुर' की आरती उतारता ही रहा। दूसरे शब्दों में वे अखंड भाव से अन्तर्मुखी बनी रहीं"। ("नयी धारा", वर्ष २, अंक १)

विनयमोहन जी के अनुसार महादेवी जी की काव्य-वस्तु का निर्माण भीगी आखों, सिहरन भरते हृदय, सोती हुई आहों और निष्ठुर की आरती से हुआ है। दूसरे शब्दों में महादेवो काव्य का मतलब है, पीड़ा और पलायन। इसके सिवा वहाँ दूसरी वस्तु नहीं है।

श्री देवराज का मत है, "महादेवी जी ने अपनी कविता में कहीं भी युग-जीवन अथवा स्वयं जीवन के संबन्ध में विचार प्रकट करने की चेष्टा नहीं की है, उनके आलोचक के लिए यह बड़े संन्तोष की बात है"। साहित्य-चिन्ता, पृ० २०२

इसका यही अर्थ हो सकता है कि महादेवी जी की कविता जीवन और युग जीवन दोनों से परे है । ऐसी हालत में या तो वह मृत्यु का प्रतिबिंब होगी या ऐसे किसी तत्व का जो न जीवन है न मृत्यु ।

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु महादेवी जी के रहस्यवाद को जीवन से परे नहीं मानते । दोनों का परस्पर संबन्ध दिखलाते हुए वह कहते हैं—"महादेवी वर्मा ने अपनी सारी मनोभावनाओं को एक अप्राप्तव्य आराध्य के उपलक्ष्य से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है । अतृप्त इच्छाएं ही प्रलुब्ध होती हैं । इतना होने पर भी जगत और जीवन के संबन्ध को हम विध्वंस नहीं कर सकते । उसी के अन्तर्गत रहकर हम जीवन में उत्तीर्ण हो सकते हैं और वस्तुतः जीवन की यही सच्ची साधना है । क्षुद्र से विराट् तथा नश्वर से शाश्वत होने के लिए अंश में ही पूर्णता तथा सीमा ही में पूर्णता तथा सीमा में ही असीमता उपलब्ध करना पड़ेगा । अपनी सारी चेतना के साथ देखने से बद्ध भी अबद्ध मालूम पड़ता है । जीवन के विषाद तथा अवसाद चेतना की अन्तर्ज्योति से स्वतः दीप्तिमय होकर आनन्द तथा उल्लास में परिवर्तित हो जाते हैं" । (जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त पृ० ३२१-२२)

सुधांशुजी के अनुसार महादेवी जी का आराध्य, अप्राप्तव्य है । आराध्य अप्राप्तव्य तभी हो सकता है जब वह जीवन से परे हो । इच्छाएँ अतृप्त हैं, इसीलिये प्रलुब्ध हैं । शायद ये अतृप्त इच्छाएँ कभी भी तृप्त नहीं हो सकतीं क्योंकि आराध्य अप्राप्य है । सारी "चेतना" के साथ देखने से बद्ध भी अबद्ध मालूम पड़ेगा । इस प्रकार महादेवी जी की काव्यवस्तु अप्राप्तव्य की अतृप्तिजन्य साधना ठहरती है ।

श्री अमृतराय महादेवी के काव्य का परिचय इस प्रकार देते हैं ।

"महादेवी ने स्वयं अपनी कविता का सबसे अच्छा परिचय दिया है :

मैं नीर भरी दुख की बदली

उनकी इसी एक पंक्ति को मन में रखे हुए आप उनके संपूर्ण काव्य साहित्य का अवलोकन कर डालिये । आप तुरन्त जान लेंगे कि

यही भाव शिराओं में बहने वाले रक्त के समान उसमें सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है।" (नया साहित्य, भाग ४)

महादेवी जी की काव्य वस्तु का निरूपण करने में श्री अमृतराय और दूसरे आलोचकों में कोई अन्तर नहीं है। अमृतकराय जो भी और सभी आलोचकों की तरह उस काव्यवस्तु को पीड़ावादी पलायनवादी तत्वों से निर्मित मानते हैं। अन्तर है, उन तत्वों के मूल्यांकन और उनके विवेचन में लेकिन यदि महादेवी वर्मा के काव्य-साहित्य में कहीं कोई सामन्त-विरोधी जनवादी स्वस्थ जीवन के पोषक तत्व आये हैं, तो अमृतराय जी उतनी ही दृढता से उन्हें अस्वीकार करते हैं जितनी दृढ़ता से नगेन्द्र जी या देवराज जी।

एक दूसरे लेख में वह कहते हैं—"महादेवी वर्मा की कविता की पंक्ति-पंक्ति आँसुओं से गीली है, यहाँ तक कि उनका एक 'आँसुओं का देश' ही है, सबसे अलग। उनकी सारी कविताओं को एक में पिरोने वाली लड़ी आसुओं की लड़ी ही हो सकती है। उन्हें आसुओं से मोह है और उनसे वे अपना सिंगार करती हैं क्योंकि उन्हें अपनी व्यथा से मोह है।" (नयी समीक्षा, पृ० १४७)।

एकबार यह निश्चय कर लेने पर कि महादेवीजी का काव्य पीड़ा और पलायनवादी तत्वों से ही निर्मित है, आलोचक इसका विश्लेषण आरंभ करते हैं कि ये तत्व उनके काव्य में क्यों मौजूद हैं। नगेन्द्रजी का मत हम ऊपर देख चुके हैं जिसके अनुसार ये तत्व अतृप्त काम वासना का फल है। कुछ लोग अतृप्ति को मानते हुए उसे आध्यात्मिक अनुभूति से जोड़ देते हैं। जो लोग काव्य को सामाजिक परिस्थतियों से परे मानते हैं, वे स्वभावतः इस पलायन का कारण सामाजिक सम्बन्धों में न देख कर कवयित्री के व्यक्तिगत जीवन में ढूंढते हैं या उनके व्यक्तिगत जीवन को ही आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित मान लेते हैं।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय उनके व्यक्तित्व के बारे में लिखते हैं—"महादेवीजी का व्यक्तित्व आध्यात्मिक है, इसमें सन्देह नहीं।" और-

"महादेवीजी के व्यक्तितत्व से तुलना करने के लिये हिमालय ही सबसे अधिक उपयुक्त भी जान पड़ता है। उनके व्यक्तितत्व का वही उन्नत और दिव्य रूप, वही विराट और विशाल प्रसार, वही अमल-धवल तथा अचल-अटल धीरता-गंभीरता, वही करुणा एवं तरलता और सबसे बढ़कर वही सुखकर शुभ्र हास। यही तो महादेवी हैं।" ("आजकल" जुलाई १९५५)।

इसके विपरीत सुधांशजी का मत है—"महादेवी वर्मा के जीवन की शुष्कता ने उन्हें लोक विमुख वैराग्य देकर लोकोत्तर आलम्बन की ओर प्रेरित किया है, जिसके अनुसन्धान में कभी तृप्ति नहीं।" (जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्तः पृ० ३२०)।

और नगेन्द्रजी का विचार है—"महादेवीजी का एकाकी जीवन उनके काव्य में स्पष्ट रूप से प्रतिर्बिबित है। किसी प्रभाव ने ही उनकेजीवन को एकाकिनी बरसात बना दिया है, सुख और दुलार केआधिक्य ने नहीं। ("दीपशिखा")

एकाकीपन की चर्चा करते हुए श्री अमृतराय 'दीपशिखा के बारे में लिखते हैं—'इस तरह पुस्तक की एक टेक है एकाकीपन और दूसरी एक जिच। किसी भी साहित्यिक रचना के दो पक्ष होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक और इसी नाते प्रकारान्तर से सामाजिक। पहले पक्ष के विवेचन के लिए प्ररायडीय प्रणाली का उपयोग आलोचना के क्षेत्र में होता है। इस कविता के एक सुसंबद्ध फ्रायडीय विवेचन के लिए पुस्तक में अकूत सामग्री मिलेगी।'
(नयी समीक्षा, पृ० १४७)।

अमृतरायजी कविता के दो पक्ष करते हैं—सामाजिक और वैयक्तिक। वैयक्तिक पक्ष "प्रकारान्तर से" सामाजिक ठहरता है। पहले पक्ष के विवेचन के लिये (उनका मतलब वैयक्तिक पक्ष के विवेचन से है) आलोचना क्षेत्र में फ्रायडीय प्रणाली का उपयोग होता है। यहाँ पर यह कह देना जरूरी है कि फ्रायडीय प्रणाली के अलावा भी व्यक्ति और उसके व्यक्तितत्व की परख की वैज्ञानिक पद्धतियाँ मौजूद है और जो लोग

फ्रायडीय प्रणाली का उपयोग करके व्यक्ति की समस्याओं को परखते हैं, वे कम से कम साहित्य के क्षेत्र में क्रॉंति-विरोधी साबित हुए हैं।

अमृतरायजी एकॉंकीपन और जिच का जिक्र करने के बाद इनका सामाजिक विश्लेषण इस तरह करते हैः—

अब हम एकॉंकीपन के सामाजिक पक्ष पर विचार करेंगे।

"पूँजीवाद व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के सहज मानवोचित रिश्ते को हटाकर उसके स्थान पर एक ऐसे सम्बन्ध की प्रतिष्ठा करता है जिस में मनुष्य एक पण्य-वस्तु के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। और इस प्रकार मानव और मानव के बीच का सम्बन्ध एक नये बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ मानव सम्बन्धों में फिर किसी प्रकार का रस नहीं रह जाता। इस तरह एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति पैदा होती है जिससे सहृदय व्यक्तियों के मन को ठेस लगना स्वाभाविक है। यह ठेस ही उन्हें मानसिक इच्छा पूर्ति (wish fulfilment) का मार्ग ढूंढने पर विवश करती है। श्रीमती महादेवी वर्मा का वेदनामूलक रहस्यवाद भी ऐसी ही मानसिक इच्छापूर्ति है।" (नयी समीक्षा" पृ० १४८।

ये वाक्य पढ़ने पर मन में कई प्रश्न उठते हैं। पूँजीवाद मनुष्यों के सहज मानवोचित रिश्तों को हटाता है। पूँजीवाद से पहले के सामंती संबंध क्या सहज मानवोचित रिश्ते हैं?

पूँजीवादी संबन्धों से उत्पन्न होने वाली सामाजिक परिस्थिति में सहृदय व्यक्तियों के मन को स्वाभाविक रूप से ठेस लगती है और ठेस लगने पर वे मानसिक इच्छापूर्ति का मार्ग ढूँढने पर "विवश" होते हैं। पूँजीवाद जिस पलायनवादी साहित्य का नशा जनसाधारण में बाँटता है, क्या वह ठेस और विवशता का साहित्य है? यह साहित्य व्यक्ति की मानसिक इच्छापूर्ति का साहित्य है या एक वर्ग की भौतिक इच्छाओं—मजदूर वर्ग को गुलाम बना रखने की इच्छाओं—का साहित्य है?

यदि महादेवी जी का साहित्य यूरोप के मानसिक इच्छापूर्ति वाले साहित्य जैसा है तो क्या हिन्दुस्तान में वही परिस्थितियाँ मौजूद हैं जो यूरोप में हैं? अथवा उन परिस्थितियों के अभाव में क्या वह यरोप के

साहित्य का प्रभाव मात्र है ?

ये प्रश्न करते ही मालूम हो जाता है कि श्री अमृतराय के विश्लेषण में शब्दावली समाज शास्त्रीय है; उसाका तत्व दर असल कोई ठोस विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करता।

उसी निबन्ध में वह आगे कहते हैं—

"जैसा हमने अभी ऊपर देखा कि पूँजीवादी सामाजिक प्रणाली में हर व्यक्ति दूसरे को मनुष्य नहीं बल्कि एक वस्तु समझता है जिसका वह क्रय-विक्रय कर सकता है क्योंकि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में हर व्यक्ति को यह बुनियादी आजादी होती है कि वह अपनी उत्पादक शक्ति को मोल पर चढ़ाये। इस तरह सामाजिक बन्धन रोज बरोज ढीले होते जाते हैं क्योंकि वे अब व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध नहीं हैं, और उनका आधार भी सहयोग न होकर होड है। होड पर टिकने वाले संबंध स्थायी नहीं हो सकते। इसी आत्मीयता की कमी के कारण कल्पना विलासी व्यक्ति को स्वनिर्मित आत्मीयों का पल्ला पकड़ना पड़ता है। महादेवी जी ने व्यथा में ऐसा आत्मीय पाया है।" (उप०पृ० १४८-४६)

यदि पूँजीवादी प्रणाली में हर व्यक्ति दूसरे को पण्य वस्तु समझे जिसका वह क्रय-विक्रय कर सके तो ऐसे समाज में हर व्यक्ति एक साथ ही पूँजीपति भी होगा और मजदूर भी। वास्तव में इस प्रणाली के अंतर्गत एक 'वर्ग' खरीदने वालों का होता है और दूसरा 'बर्ग' खरीदे जाने वालों का होता है। इसीलिये पूँजीपतियों में होड, एक दूसरे को हड़पने और विनाश की ओर बढ़ने की वृत्ति उत्पन्न करती है, वहाँ वह मजदूरों में-खरीदे जाने वालों में ऐसी जबर्दस्त आत्मीयता उत्पन्न करती है जिस की मिसाल पहले के इतिहास में नहीं मिलती। श्री अमृतराय ने अपने अवैज्ञानिक विश्लेषण से वर्गों के सम्बन्ध को मनुष्य मात्र का सम्बन्ध बना दिया है और मजदूर वर्ग की आत्मीयता, परस्पर भाई चारे को भुला दिया है। कहना न होगा कि यह समूचा विश्लेषण अपने में सही भी हिन्दुस्तान की परिस्थितियों में बहुत ही आँशिक रूप से वह लागू हो सकेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि महादेवी जी के काव्य में पीड़ावादी पलायन वादी तत्व मौजूद हैं "लेकिन इनकी उत्पत्ति और स्थिति का सही कारण तब हम अच्छी तरह जान सकेंगे जब हम इनके विरोधी तत्वों पर भी दृष्टिपात करेंगे और दोनों के परस्पर सम्बन्ध की जानने की कोशिश करेंगे।

महादेवीजी और उनकी कविता का परिचय 'नीरभरी दुख की बदली' या 'एकाकिनी बरसात' कहकर नहीं दिया जा सकता। उन्हीं के शब्दों में उनका परिचय देना हो तो में यह पंक्ति उद्धृत करूँगा—

'रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ।'

निराला को छोड़कर किसी भी छायावादी कवि में जीवन की इतनी चाह नहीं है, जितनी महादेवी में। निराशावाद की अंधेरी रात में जीवन प्रभात की यह चाह महादेवी की रचनाओं में बारबार दीप्त हो उठती है। और जितना ही यह अंधेरा घना होता है, उतना ही यह चाह और भी तीव्र हो जाती है। महादेवी जी ने अलंकृत शब्दावली और मनोहर रूपकों में गीवन और सौन्दर्य की इस अत्कॉक्षा को बारबार व्यक्ति किया है।

"कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हंस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनी प्यारे जाग !"

क्या जीवन से परॉगमुख कोई भी व्यक्ति ऐसी सुन्दर पंक्तियाँ लिख सकता है? क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहने से उस ठोस जीवन आकाँक्षा, मानवीय प्रेम, मानवीय सौन्दर्य की आकांक्षा की व्याख्या हो जाती है जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है?

महादेवीजी अपने गीतों में 'देवी' के रूप में नहीं, एक मानवी के रूप में दर्श देती हैं। वह अपनी भाव व्यंजना में इस धरती पर काम करने वाली मनुष्य नामक प्राणी ही नहीं है वरन उसका एक भेद नारी भी है। उनका नारीत्व सामाजिक सीमाओं के अन्दर विकास के लिये पंख फड़फड़ाता है; उसकी यह व्याकुलता अनेक सांकेतिक रूपों में

उनकी कविताओं में प्रकट होती है। नारीत्व के इन तत्वों को निकाल दीजिये, उनका काव्य साहित्य उतना ही नीरस और निर्जीव हो जाय या जैसा उन कवियों का जो पुरुष हो कर रमणी कंठ की नकल करते हुए कहते हैं—"लाई हूँ फूलों का हास।

लोगी मोल, लोगी मोल!"

महादेवी जी की नारी—प्रकृति की एक सरस विशेषता उनका हठ है। उनके प्राण "पागल" है तो हठीले भी है।

"उन्हीं तारक फूलों में देव!

गूंथता मेरे पागल प्राण—

हठीले मेरे छोटे प्राण!

"अध्यात्मवादी" महादेवी का अभिमान देखने योग्य है जो निजत्व देने में असमर्थ होकर प्रिय से मिल नहीं सकती।

"मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल 'गुंठन, मैं मिटू' प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिलकण।

सजनि मधुर निजुत्व दे

कैसे मिलूं अभिमानिनी मैं!"

जीवन से पराङ्मुख कहलाने वाली इस कवयित्री की शृङ्गार भावना अद्भुत है। "कुमार संभव" के रचयिता ने सुन्दरियों के चरण स्पर्श की राह न देखकर स्वयं खिलने वाले जिस अशोक का वर्णन किया था, मानो उसी को याद करके महादेवी जी लिखती हैं—

'रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,

मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनी गन्धा का पराग,

यूथी की मीलित कलियों से

अलि दे मेरी कवरी सँवार!"

इतनी शृङ्गार प्रियता, फिर भी असफलता! एकबार उनकी समझ में नहीं आता कि शृंगार में वे कौनसी त्रुटि रह गई जिससे वह विफल मनोरथ रहीं।

"क्यों आज रिझा पाया उसको

मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?"

और जब उन्हें भासित होता है कि मिलन क्षण आ पहुँचा, तब उनकी विव्हलता और भाव-व्यंजना नारी सुलभ शंका और उत्सुकता से चित्रमय हो उठती है।

"नित सुनहली साँझ के पद से लिपट आता अँधेरा;
पुलक—पंखी विरह पर उड़ आ रहा है मिलन मेरा;
कौन जाने है बसा उस पार
तम या रागमय दिन !"

महादेवी जी की कविता में नारी सुलभ शृंगार भावना ही नहीं है, प्रेम की विव्हलता और कष्ट सहने का साहस भी है। वह अपने एकाकी मन को चुनौती देते हुए कहती हैं—

"जिसको पथ शूलों का भय हो
वह खोजे नित निर्जन, गव्हर;
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूंगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण कण में ममता बिखरी !"

जो अपनी भुजाओं में सुख दुख भेंटने के लिये समानरूप से तत्पर हो, उसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी हर पंक्ति आंसुओं से गीली है। कभी कभी दुख और सुख का अनुपात ही बदल जाता है और दुख घेरनेवाला न बनकर स्वयं सुख से घिर जाता है।

"सुख की परिधि सुनहली घेरे
दुख को चारों ओर,
भेट रहा मृदु स्वप्नों से
जीवन का सत्य कठोर।
चातक के प्यारे स्वर में सौ सौ मधु रचते रास !"

कहने वाले कह सकते हैं कि यह सब सौन्दर्य और जीवन की कल्पना है; वास्तव में इस कल्पना का स्रोत तो अतृप्ति ही है। यह भी

एक तरह की मानसिक इच्छापूर्ति है जो कुंठित व्यक्तित्व से उत्पन्न हुई है।

यदि जीवन और सौन्दर्य की चाह प्रकट करने वाली कविता दमित इच्छाओं के ही कारण हो तो जितने भी जीवन और सौन्दर्य के कवि हैं वे, सब दमित इच्छाओं के शिकार साबित हों और जितने भी मृत्यु और कुरूपता के कवि हैं, वे सब तृप्त इच्छाओं वाले समझे जायें।

महादेवी जी के व्यक्तित्व में नारी हठ के साथ कहीं पत्थर जैसी दृढ़ता भी छिपी है, यह उनके कई गीतों से स्पष्ट हो जाता है। उनके अंदर यह क्षमता है कि वह पीड़ा और आँसुओं के व्यापार को ही समाप्त कर दें बल्कि तितलियों के पदों की रंगीनी और मधुप की गुनगुन छोड़कर वीर नारी के समान दर्प के साथ चुनौती दें—

> "बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बंधन सजोले ?
> पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले ?
> विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
> क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस-गीले ?
> तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
> जाग तुझको दूर जाना !"

क्या यह कोरी डींग है ? क्या यह भी एक तरह की साँकेतिक शब्दावली है जिसका सारतत्व पलायन है और बाहरी अलंकार ही संघर्ष के हैं ? क्या महादेवी वर्मा को जीवन में कठिनाइयों का विशेषकर सामाजिक विरोध और अपवाद का सामना नहीं करना पड़ा ? मेरी समझ में ऐसी बात नहीं है। महादेवी जी की कर्मठता, समाज—सुधार और जनसंपर्क की सीमाएँ हैं लेकिन इनका एकान्त अभाव हो, ऐसी बात नहीं है। "शृङ्खला की कड़ियाँ," "स्मृति की रेखाएँ," "अतीत के चलचित्र" आदि पुस्तकें इस बात का प्रमाण है। महादेवीजी का कवि और गद्यकार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं; वे दो बिखरी हुई विरोधी इकाइयाँ नहीं हैं।

महादेवी जी के व्यक्तितत्व को 'आध्यात्मवादी' मानने वाले उनके

सबसे अधिक प्रशंसक गंगाप्रसाद जी पाण्डेय की यह भौतिकवादी बात सही मालूम होती है—

"परित्यक्त तथा उपेक्षित नारियों के पति क्रीत मुख भारतीय समाज में, काले हिन्दू ला के समक्ष उन्होंने स्वस्वीकृत के बिना विवाह को, डंके की चोट के साथ समाज तथा संसार के कटुतम व्यंग्य प्रहार सहते हुए भी चुनौती देकर ही अपने जीवन-क्रम की नीव धरी है। उन्होंने जो उचित समझा सो किया, हठ के साथ किया। संसार का कोई भी प्रलोभन या भय उससे उन्हें विमुख नहीं कर सकता।"

(आजकल जुलाई ५५)

महादेवीजी की अनेक रचनाओं से उनके सम्बन्ध में पाण्डेयजी की यह धारणा पुष्ट होती है। उसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। उनके व्यक्तितत्व के बारे में इससे भिन्न एक पराजित नारी की कल्पना विशेष आधार पर टिकी नहीं जान पड़ती।

फिर क्या कारण है कि उनकी रचनाओं में पीड़ा का इतना बाहुल्य है, वे छायावाद की परिधि लाँघकर नये साहित्यिक और सामाजिक आन्दोलनों से घनिष्ट सम्बन्ध कायम नहीं कर सकी ?

इसका कारण यह है कि संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण विज्ञान सम्मत नहीं है और उनके मनोबल और कर्म सम्बन्धी इच्छा शक्ति की अपनी सीमाएं हैं। इस पर कुछ और कहने के पहले यहाँ यह प्रश्न करना अनुचित न होगा कि अधिकाँश आलोचकों ने महादेवी जी के साहित्य में पीड़ावाद ही क्यों देखा है और उसे बढ़ाचढ़ा कर अध्यात्मवाद का रूप क्यों दिया है ? आज के भारतीय समाज में नारी परतंत्र है, यह कहने की बात नहीं है। उसकी परतंत्रता का कारण सामंती सम्बन्धों के अवशेष और समाज संचालकों · सामन्ती संस्कार है। नारी की पराधीनता को यदि पीड़ावाद का रूप दे दिया जाय तो इससे सामन्ती बन्धनों और सामन्ती संस्कारों की रक्षा होती है। नारी की दासता और परवशता के सहारे जिस "अध्यात्मवाद" की रचना हुई है, वह ढह पडे अगर नारी इन सामंती बन्धनों को तोड़ने के लिये कटि-

बद्ध हो जाय। आज हिन्दुस्थान में सामन्ती अवशेष साम्राज्यवादी हितों के साथ घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं, इसीलिए नारी की स्वाधीनता का प्रश्न भारतीय जनसाधारण की स्वाधीनता की समस्या का ही एक अंग है। इसलिए जो लोग सेक्स में क्रान्ति की बातें करते हैं, वे इस समस्या को सुलझाने के बदले और उलझाते हैं और सामन्ती हितों को पुष्ट करते हैं। भारतीय नारी सदियों की सामन्ती दासता से तभी मुक्त हो सकेगी जब वह शेष जनता के साथ साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी स्वाधीनता आन्दोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लेगी। इससे इतर मार्ग से उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है।

सामन्ती संबन्धों की परिधि में पुरुष का एक अपना निहित स्वार्थ होता है। मजदूर वर्ग से बाहर अन्य वर्गों का पुरुष-जिनमें नारी स्वतंत्र श्रमिक नहीं है—सामन्ती-साम्राज्यवादी बन्धनों से पीड़ित होते हुए भी स्वयं नारी का स्वामी बनकर उसके श्रम का फल आत्मसात् कर लेता है। इसलिये ऐसे लेखक, जो सामन्त-विरोधी सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों से दूर हैं, स्वभावतः पीड़ावाद के समर्थक बन जाते हैं। यही कारण है कि इस पीड़ावाद के खिलाफ जहाँ किसी नारी की रचनाओं में प्रेम, सौंदर्य, जीवन और विद्रोह के तत्व उभर आते हैं, वे एक बार उन्हें देख कर भी नहीं देखते।

यह आकस्मिक बात नहीं है कि जहाँ प्रायः सभी पुरुष-आलोचकों ने महादेवी जी के काव्य में पीड़ावादी पलायनवादी तत्वों को ही देखा है उनका नामकरण भले ही भिन्न भिन्न हो-वहाँ एक स्त्री आलोचिका ने उसके द्वंद्व को, परस्पर विरोधी भावधाराओं के संघटन को, बड़ी खूबी से निर्दिष्ट किया है। अंग्रेज कवयित्री क्रिस्टिना रोजेटी और महादेवीजी की तुलना करते हुए श्री शचीरानी गुर्टू अपनी पुस्तक 'साहित्य दर्शन' में लिखती हैं, एक ओर वैराग्य मिश्रित हलकी प्रतिध्वनि उठती है, दूसरी ओर क्रूर नियति के प्रति विवशता का क्रन्दन। कहीं प्रेम शृंखलाओं में जकड़े मनुष्य की सी बाध्यता है, कहीं दारुण दुख और क्लेशों से

विरत होकर अंतश्चेतना की विश्वासमय निर्बाध गति। उनके हृदय में व्यथा की घटाटोप सघनता है, जिसे वे अपनी आन्तरिक स्फूर्ति और उद्दीप्त आत्मचेतना से विच्छिन्न करके अचिन्त्य आलोक से भरना चाहती हैं। कभी दीन हीन खोई सी वेदना में डूब जाती है, गर्वीले स्वाभिमान से सजग होकर वे लौकिक प्रेम की अवज्ञा करती हुई अलौकिक भाव जगत् में पैठने का प्रयास करती हैं।"

इस द्वन्द्व से निकलने का एक ही मार्ग है—भारत में सामन्ती अव-शेषों और साम्राज्यवादी हितों को समाप्त करना। इस मार्ग की तरफ बढ़ने में उनका वह दृष्टिकोण बाधक होता है जिस पर बौद्ध दर्शन, गान्धीवाद और अन्य ऐसी विचारधाराओं का प्रभाव है जो सामन्त वाद से समझौता करना सिखाती हैं।

महादेवीजी में जनसाधारण के प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं है, उन्हें पीड़ित जनता से हार्दिक सहानुभूति है। पंतजी "ग्राम्या" में बौद्धिक सहानुभूति की रेखा तक आकर वापस लौट गये। महादेवीजी अपने गद्य में इस ओर उनसे कहीं अधिक आगे बढ़ी हैं। छायावादी कवियों में केवल "चतुरी चमार" और "बिल्लेसुर बकरिहा" का रचयिता निराला उनसे इस बात में आगे हैं। महादेवी जी की यह सहानुभूति बड़ी मूल्यावान है। उसके बल पर वे समाज में पीड़ित जनों के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र दे सकी हैं। फिर भी इस सहानुभूति की सीमाओं को न पहचानना और नारी-समस्या के प्रति उनके दृष्टिकोण की लेनिन के दृष्टिकोण से तुलना करना अपने को और दूसरों को धोखा देना है। (देखिये, श्री अमृतराय का लेख—गद्यकार महादेवी और नारी-समस्या; नया साहित्य, भाग ४)। लेनिन ने नारी-समस्या को हल करने में सोवियत सफलता का रहस्य एक वाक्य में यों बतलाया था—"रूस में हमें स्त्री और पुरुष की समता स्थापित करने में सफलता केवल इसलिये मिली कि ७ नवम्बर १६१७ को हमारे यहाँ मजदूरों का राज्य स्थापित हुआ।" (उ० पृ०)। महादेवीजी और उनके साथ अमृतरायजी भी अपने लेख में-इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे कि भारत में नवीन जनवादी प्रजातन्त्र कायम

हुए बिना नारी समस्या हल नहीं हो सकती। महादेवीजी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौंदर्य की आकांक्षा का स्वस्थ मानव प्रेमी और सौंदर्यवादी पक्ष भी है। उनके अन्दर एक विद्रोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार नहीं दिखा सकी। उन्हें जनता से हार्दिक सहानुभूति है और वे उससे संपर्क स्थापित करती रही हैं—यह उनका सबसे बड़ा संबल है। जिस दिन यह सहानुभूति सक्रिय रूप लेगी, उनके द्वन्द्व का भी उस दिन अन्त हो जायगा। महादेवी जी अपने साहित्यिक रचनाकाल में मध्यान्ह वेला तक पहुँच गयी हैं। यदि वे पंतजी की तरह पीछे कदम हटाकर अन्तर्चेतनावाद की तरफ लौट चलती हैं, तो उनके कृतित्व का अन्त इस तरह होगा जिससे भविष्य में नारी जाति क्षोभ के साथ उनका स्मरण करेगी। यदि वे अपनी सहानुभूति को तर्कसंगत परिणाम तक ले जाती हैं और सक्रिय रूप से नारी-स्वाधीनता और जनसाधारण की स्वाधीनता के आन्दोलन के साथ आगे बढ़ती हैं, तो उनकी वाणी सतेज होकर वैसे ही मुखर हो उठेगी जैसे बंगदर्शन की भूमिका में या "सांध्य गीत" की उन अनुपम पंक्तियों में ("जाग तुझको दूर जाना" आदि)। महादेवीजी का भावी उज्ज्वल कृतित्व उन्हीं के हाथ है। उनकी काव्य-साधना से भारतभाग्य काँटों की सेज पर सोते हुए गुलाब की तरह जागे, आलोचक यही मंगल कामना कर सकता है।

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग!

प्रेमचन्द और यथार्थवाद

प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय समाज का दर्पण है। उस साहित्य से परिचित होने का मतलब है, भारत के सामन्ती अवशेषों और उसके उज्ज्वल भविष्य से परिचित होना।

प्रेमचन्द-साहित्य में किसान, महाजन, हाकिम, वकील, जमींदार, राजे-महाराजे, अछूत, बुद्धिजीवी, समाज के सभी वर्गों और स्तरों के लोग मिलते हैं। किसान भी एक ही तरह के नहीं हैं। मनोहर बहुत ठंडे दिमाग का है लेकिन जब जोश आता है तो नौजवानों से बहुत आगे बढ़ जाता है। बलराज ने रूस के नये जीवन के बारे में पढ़ा है और साधारण लोगों के अधिकारों के प्रति सचेत हैं। कादिर शोषक और शोषितों के बीच शान्ति चाहता है, फिर भी वह विद्रोही मनोहर का सबसे बड़ा समर्थक है। अन्धा सूरदास जमीन के लिए प्राण रहते बराबर लड़ता है। अछूत गूदड़ अपने अनुभव से धर्म और पुरोहिताई का रहस्य समझता है। होरी अपने जमींदार रायसाहब की भलमनसी का भरोसा करता है और संपत्तिहीन होकर मजदूरी करते हुए मरता है।

किसानों के अलावा नारी-पात्रों की एक शानदार पंक्ति है। सुमन घरेलू गुलामी के बदले अपनी मेहनत के बल पर जिन्दगी बिताना ज्यादा पसन्द करती है। अपने पिता-तुल्य पति के सन्देह के कारण निर्मला जीवन-भर कष्ट उठाती है, लेकिन अन्त में वह भी अत्याचारों के विरोध में उठ खड़ी होती है। अपनी जमीन के लिये विलासी मर्दों से भी ज्यादा दृढ़ता से लड़ती है। सोफिया अपने से भिन्न धर्मवाले विनय को प्यार करती है और उसके लिये सदा आँसू बहाती रहती है। अपना सतीत्व नष्ट किये जाने पर मुन्नी अपने आततायियों से बदला लेती है। जालपा को गहने प्यारे हैं लेकिन पति के मुखबिर हो जाने पर

वह बड़ी वीरता से संघर्ष करती है। धनिया अपने पति की निष्क्रियता की कटु आलोचना करती है लेकिन उसके हृदय में ममता का अपार सागर भी भरा है। जमींदारों में ज्ञानशङ्कर अंग्रेजी पढ़-लिख कर अपनी बिरादरी के सभी अत्याचारियों के कान काटता है। गायत्री नारी भी है, जमींदार भी; अपने शोषण को धर्म की रामनामी से छिपाती है। विनयसिंह देशभक्त है लेकिन जागीरदारों का साथ देता है। जॉन सेवक उद्योगपति है, सामन्तों का दोस्त भी है। राजा महेन्द्र-प्रताप सिंह समाजवाद के समर्थक हैं लेकिन जमीन के लिए लड़ने वाले किसान उन्हें पसन्द नहीं हैं। "कर्मभूमि" के महन्त जी कृष्ण के अनन्य भक्त हैं और किसानों से हर तरह की वसूली भगवान के नाम पर करते हैं। "गोदान" के रायसाहब जमींदारी और देशभक्ति के दोनों पेशों का मधुर समन्वय करते हैं। "इस्तीफा" कहानी का क्लर्क गोली खाकर अपने साहब पर हमला कर बैठता है। "शतरंज के खिलाड़ी" दीन-दुनियाँ से बेखबर अपनी एक निराली दुनिया में रहते हैं। "कफन" के चमार चारों ओर की कामचोरी के कारण अपनी इन्सानियत खोकर औरत की लाश की चिन्ता न करके पीते, नाचते और बेहोश हो जाते हैं। ये और इस तरह के सैकड़ों जीते-जागते पात्र प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में भरे पड़े हैं। जानवर भी प्रेमचन्द को लेखनो के स्पर्श से अमर हो गये हैं। गरीब किसान का साथी झबरा कुत्ता जो "पूस की रात" में अपने मालिक के साथ जाड़ा काटता है और "दो बैलों की कहानी" में वह शानदार वृषभ जो मध्यकालीन शूरता का प्रतीक बनकर औरत पर सींग उठाने से इन्कार करता है, इसके प्रमाण हैं।

प्रेमचन्द की यथार्थवादी कला की सबसे बड़ी विशेषता है—सजीव चरित्र-चित्रण। उनके पात्र एकदम जिन्दा हैं। वे अपनी सचाई से पाठक को प्रभावित करते हैं और उसकी स्मृति में हमेशा के लिए अंकित हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने हवाई चित्र नहीं खींचे वरन् जीवन से ही अपने पात्र चुने हैं। लोग जानते हैं कि जिस सूरदास को उन्होंने रंगभूमि में अमर किया है, वह वास्तविक था। यह बात उनके

और बहुत से पात्रों के बारे में भी सही है। उनके नाम बदल दिये गये हैं लेकिन उनकी नैतिक विशेषताएँ वही हैं। "मोटे राम शास्त्री" से एक पंडित जी नाराज हो गये थे; उन्होंने समझा था, कहानी उन्हीं पर है। प्रेमचन्द के पात्र व्यक्ति रूप में ही सजीव नहीं है; वे किसी वर्ग या सामाजिक स्तर के प्रतिनिधि भी हैं। होरी पिछड़े हुए किसानों का प्रतिनिधि है। मनोहर और बलराज उन किसानों के प्रतिनिधि हैं जो अपने अधिकार पहचान रहे हैं और उनकी रक्षा के लिए धीरे-धीरे संघर्ष के लिये तैयार हो रहे हैं। फिर भी उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ इतनी उभर कर सामने आती हैं कि वे केवल वर्ग या स्तर के प्रतिनिधि नहीं रह जाते। प्रेमचन्द ने अपने पात्रों में व्यक्ति और वर्ग दोनों की विशेषताओं का समन्वय किया है, इसीलिये वे पात्र इतने सजीव हैं।

प्रेमचन्द ने जो पात्र चुने हैं, वे भले-बुरे दोनों तरह के हैं। जमींदारों, महाजनों, नौकरशाहों, जमींदार "देशभक्तों" आदि के प्रतिनिधि आमतौर से बुरे हैं। प्रेमचन्द ने उनकी धूर्तता, निर्दयता, लालच और खुशामदीपन का भण्डाफोड़ किया है। इन पात्रों में जनता अपने दुश्मन पहचान लेती है। वह प्रेमचन्द-साहित्य से अपने शत्रुओं की हकीकत पहचानती है। साथ ही साधारण लोग, खासतौर से किसान, प्रेमचन्द के नायक हैं। ये अपनी बुराइयों के कारण, याद रहने वाले पात्र नहीं हैं; इनमें वे नैतिक गुण हैं जिन्हें जनता अपने भीतर और विकसित करना चाहती है। प्रेमचन्द ने इनका चित्रण बहुत ही सहानुभूति और विवेक से किया है। ये सभी वीर नहीं हैं। वे कभी-कभी निष्क्रिय भी होते हैं और अत्याचार का विरोध न करके चुपचाप आँसू बहाते हैं। इनमें ऐसे भी हैं जो निष्क्रियता छोड़कर सक्रिय विरोध की ओर बढ़ते हैं। मनोहर ऐसे ही लोगों में से है। उपन्यासों में वीर नायक की समस्या काल्पनिक ढंग से—हवाई चरित्र-चित्रण से—हल नहीं की जा सकती। प्रेमचन्द ने अपने चारों ओर जो पेचीदा हकीकत देखी, उसी को अपने पात्रों में झलकाया। भारत की जनता साम्राज्यवादी और सामन्ती जुल्म के खिलाफ धीरे-धीरे उठ रही थी। निष्क्रियता की जंजीरें

टूट रहीं थीं, लेकिन धीरे-धीरे। प्रेमचन्द की महत्ता इसमें है कि उन्होंने यह क्रम देखा और उसे अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित किया।

१६ वीं सदी के पच्छिमी कथा-साहित्य में जो यथार्थवाद की धारा चली, उसकी एक विशेषता यह थी कि खल-पात्रों का चित्रण जितना सजीव और कलापूर्ण होता था, उतना भले पात्रों का नहीं। खल-पात्र प्रायः लेखक के न चाहते हुए भी पाठक की हमदर्दी अपनी ओर खींच लेते हैं और उपन्यास पर छाये रहते हैं। प्रेमचन्द के साथ यह बात नहीं है। इसके विपरीत उनके "पॉजिटिव हीरो" हमारा ध्यान खासतौर से आकर्षित करते हैं। आत्मसम्मान के लिये लड़ती हुई सुमन, किसान अधिकारों के लिये सीना तानकर खड़ा होने वाला बलराज, पत्नी पर गौसखां के हमले का बदला लेता हुआ मनोहर, विदेशी सैनिकों के रक्त से सतीत्वनाश का कलंक धोती हुई मुन्नी, ब्रिटिश आतंक के विरुद्ध वीरता से लड़ते हुए कर्मभूमि के वीर अछूत किसान, मृत्यु-शय्या पर नये संघर्षों और विजय के स्वप्न देखता हुआ सूरदास—ये और ऐसे ही पचीसों अन्य पात्र उन लोगों के प्रतिनिधि हैं जो अपने जीवन में निष्क्रियता छोड़कर अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध की ओर बढ़ रहे थे।

प्रेमचन्द का एक बहुत ही निष्क्रिय पात्र है—होरी। वह जिन्दा रहने के लिये लड़ता है लेकिन अन्याय के खिलाफ नहीं लड़ता। यह ध्यान रखना चाहिये कि होरी के मुँह से प्रेमचन्द ने अपनी बातें ही नहीं कहलाई। उसकी पत्नी धनिया और उसका पुत्र गोबर उसकी आलोचना करके पाठक का असन्तोष व्यक्त करते हैं। फिर भी हिन्दुस्तान में लाखों होरी हैं और प्रेमचन्द ने बहुत सचाई से यह दिखलाया है कि होरी की तरह निष्क्रिय रहने से आखिरी नतीजा क्या होगा। इसीलिये होरी जैसे पिछड़े हुए किसान का चित्रण करना सही था।

प्रेमचन्द के यथार्थवाद का धीरे-धीरे विकास हुआ। अपनी शुरू की रचनाओं में उन्होंने समस्याओं के काल्पनिक समाधान दिये। सुमन को सेवासदन में आसरा मिलता है। प्रेमाश्रम के किसान एक भले जमींदार

के भूदान से अपनी समस्या हल कर लेते हैं। १६२० के राष्ट्रीय आन्दोलन ने प्रेमचन्द को यह सिखा दिया कि जनता को अपने अधिकारों के लिये अन्त तक बिना समझौता किये लड़ना पड़ेगा। १६२० के बाद की रचनाओं में काल्पनिक समाधान प्रायः नहीं हैं। निर्मला एक दुःखान्त उपन्यास है और वैसे ही रंगभूमि है। फिर भी इन दुःखान्त उपन्यासों से पाठक में निराशा नहीं पैदा होती। उसे इस बात की झाँकी मिल जाती है कि जनता अपनी एकता और संघर्ष के बल पर कितनी सफलता पा सकती है।

प्रेमचन्द का यथार्थवाद जितना गहरा हुआ, उनकी कला भी उतनी ही निखरी। उनकी कहानियाँ और उपन्यास अधिक सजीव और कलापूर्ण बने। उनकी शुरू की कहानियाँ पढ़ने पर कभी-कभी ऐसा लगता है कि लेखक कहानी को खींच रहा है या उसने कथानक बहुत बड़ा चुना है। कभी-कभी लगता है कि कहानी का मनचाहा अन्त करने के लिये वह घटनाओं को तोड़ता-मरोड़ता है। ये कमजोरियाँ दूर हो गयीं और उनकी श्रेष्ठ कहानियों में आवश्यक सामग्री का उचित उपयोग और चरित्र-चित्रण में सुन्दर कौशल दिखाई देता है। वे उन लघु चित्रों की कारीगरी के नमूने हैं जिनमें जन-जीवन की सजीव तस्वीरें मिलती हैं।

कहा जाता है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों के कथानक शिथिल होते हैं। निःसन्देह उनके कुछ उपन्यासों में एक खास तरह की शिथिलता है। सेवासदन, निर्मला, गबन आदि उपन्यास इस बात का प्रमाण हैं कि वे जब आवश्यक समझते थे, तब बहुत ही गठा हुआ कथानक दे सकते थे। फिर भी कथानक का रूप क्या हो, यह इस पर निर्भर था कि प्रेमचन्द किन सामाजिक समस्याओं पर लिख रहे हैं। उपर्युक्त उपन्यासों की समस्याएँ बहुत कुछ सीमित दायरे की हैं; यहाँ वे वर्गों या सामाजिक गुटों का विराट संघर्ष चित्रित नहीं करते। उनके उपन्यासों का मुख्य और सबसे महत्त्वपूर्ण विषय जमीन और आजादी के लिये किसानों का संघर्ष है, जमीदारों और महाजनों की गुलामी से छुटकारा पाने के लिये उनका आन्दोलन है। इस संघर्ष की भरीपूरी तस्वीर देने

के लिये उन्होंने विशाल चित्रपट चुना है। इस चित्रपट पर वह किसानों के ही नहीं, उनके शोषकों के भी चित्र आँकते हैं। इसके सिवा वे केवल सामाजिक संघर्ष चित्रित नहीं करते, वे उनको विभिन्न संस्कृति और घरेलू जीवन की भी सच्ची तस्वीर खींचते हैं। कई छोटे कथानकों को मिलाने से उनके उपन्यासों की विषयवस्तु समृद्ध होती है, कथा का प्रवाह और भी घना और गहरा होता है और यही वे उपन्यास हैं, जहाँ प्रेमचन्द संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों से टक्कर लेते हैं। इसलिये यह तथाकथित शिथिलता कलात्मक दृष्टि से उचित ठहरती है।

प्रेमचन्द के यथार्थवाद का स्रोत उनकी देशभक्ति, जनता के लिये उनकी गहरी सहानुभूति है। उनकी रचनाओं में विदेशी शासकों के लिये तीव्र घृणा है। उनका मूल सन्देश है—साम्राज्यवाद से बिना समझौता किये संघर्ष करो। साथ ही प्रेमचन्द ने साम्राज्यवाद के सबसे महत्त्वपूर्ण देशी सहायक—भारतीय सामन्तवाद—की भी असलियत जाहिर की है। उन्होंने दिखलाया है कि इस वर्ग ने जनता को अधिकारों से वंचित रखने में अंग्रेजों और देशी हाकिमों की मदद पायी है। उन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि से इनके दाँव-पेंच परखते हुए जनता को सावधान किया है कि उसके शत्रु उसे गुलाम बनाये रखने के लिये किन-किन उपायों से काम लेते हैं। उन्होंने भाग्यवाद, धार्मिक अन्धविश्वासों और जनता की खुशहाली के लिये जबानी जमाखर्च करने वालों का तीव्र खंडन किया है। सामन्ती जोंकों की रक्षा के लिये देश में जिस शान्ति और न्याय की व्यवस्था थी, उसकी भीतरी सचाई उन्होंने प्रकट कर दी। उन्होंने साम्प्रदायिकता और जाति-प्रथा का लगातार विरोध किया क्योंकि इन्हीं दो हथियारों से देश के प्रतिक्रियावादी जनता में बराबर फूट डालने की कोशिश करते थे।

उन्होंने यह सब किया, यह प्रेमचन्द का ऐतिहासिक महत्त्व है। उनका यह दृष्टिकोण और उनका प्रचुर सामाजिक अनुभव उनके यथार्थवाद का दृढ़ आधार है। यही आधार आज के हिन्दी कथा-साहित्य का भी होना चाहिये।

फ़िराक़ और हिन्दी*

हिन्दी कविता के किन्हीं विशेष दोषों पर आपत्ति हो और फ़िराक़ उसका सुधार करने पर तुले हों, सो बात नहीं है। उन्हें सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में कोई भी ऐसी चीज नजर नहीं आती, जिसे संसार की किसी प्रसिद्ध रचना की तुलना में रखा जा सके। न कथा-साहित्य में, न आलोचना में, न कविता में। हाँ, हिन्दी में एक लेखक थे प्रेमचन्द जरूर, परन्तु वह उर्दू के लेखक थे; इसलिए प्रेमचन्द के भी हाथ से निकल जाने पर हिन्दी का दिवाला पिट जाता है। श्रीरघुपतिसहाय को आपत्ति है हिन्दी के उस सम्पूर्ण विकास पर जो, भला या बुरा, हिन्दी-लेखकों की साधना के फलस्वरूप अब तक अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अपने क्रम को अटूट बनाये रख सका है। सभी जानते हैं कि हिंदी के लेखकों ने सोने के कौर नहीं खाये। उनका जीवन त्याग, तपस्या और संघर्ष का जीवन रहा है। अपनी भाषा और साहित्य के लिए उन्होंने जो कष्ट सहे हैं, वे केवल किसी प्रवंचना और भुलावे में आकर, या हिन्दी लिखने-बोलने वालों का उनसे कोई हित भी हुआ है? श्रीरघुपति सहाय ने उस साधना का जो मूल्य आँका है, वह मेरी समझ में गलत है। साहित्य की जिस कसौटी पर और जिस तरह उन्होंने हिन्दी-साहित्य को परखा है, वह सब भी गलत है।

उनका विचार है कि आधुनिक हिंदी के विकास की जड़ में ब्राह्मणत्व या पंडिताऊपन की भावना काम करती रही है। जैसे अनेक संस्थाओं में कायस्थ, ब्राह्मण-पार्टियाँ बन जाती हैं, वैसे ही मानो साहित्य में भी पार्टीबन्दी हो गई है। भारतेन्दु से लेकर श्री श्यामसुन्दरदास तक जो अब्राह्मण हिन्दी लेखक हुए हैं, उन्होंने मानो अपनी स्वार्थ-सिद्ध के लिए

---

*प्रयाग के "तरुण" में प्रकाशित फ़िराक़ के लेखों का उत्तर।

ब्राह्मण-पार्टी में ही शामिल होना उचित समझा था। आप कहते हैं—"जिस संकीर्ण और मूर्खतापूर्ण ब्राह्मणत्व ने हमको अब तक डुबोया है, मुझे उसी का डर आज हिन्दी-साहित्य में नजर आ रहा है।" प्रसादजी की कामायनी की भाषा कठिन है, इसलिए कि वहाँ उन पर ब्राह्मणत्व का रोब गालिब हो गया है। उनके उपन्यासों और कहानियों की भाषा सरल है, इसलिए कि वहाँ वह कायस्थ-पार्टी में मिल गये हैं। श्रीमैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथवध की भाषा सरल है; क्योंकि उस समय वे कायस्थ-पार्टी में थे। साकेत लिखते समय वे ब्राह्मण-पार्टी में आ मिले; क्योंकि उस समय मंत्रि-मण्डल उसी पार्टी का था। निरालाजी ने 'तुलसीदास' में वह क्लिष्ट भाषा लिखी है कि श्री रघुपतिसहाय को मूर्च्छा आ जाय। "देवी", "चतुरी चमार" आदि कहानियों और अपने उपन्यासों में उन्होंने उसी मूर्च्छा को दूर करने के लिए सरल भाषा लिखी है। विषय और शैली की तदनुरूपता का कोई प्रश्न नहीं है। प्रश्न है ब्राह्मणत्व और अब्राह्मणत्व का!

इस पार्टीबन्दी का यह परिणाम हुआ है कि प्रशंसा और आमदनी की जगहें निकम्मे आदमियों को मिल गई हैं। इन लोगों में पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० धीरेन्द्रवर्मा—ब्राह्मण और अब्राह्मण—दोनों ही तरह के लोग हैं; क्योंकि Coalition Ministry में दोनों तरह के लोग मिल गये थे और ब्राह्मणत्व का पोषण करने लगे थे! श्री रघुपतिसहाय ने बड़े सभ्य शब्दों में हिन्दी के आचार्यों को याद किया है—"हिन्दी के आचार्यों, पंडितों और समालोचकों में अब तक तो गलत और घातक किस्म का ब्राह्मणत्व रहा है। इस छूतछात से काम नहीं चलेगा। हिंदी के बहुत-से विद्वान् हमारे विश्वविद्यालयों के होनहार लड़कों के सामने छोटे आदमी मालूम होते हैं। इनके अध्ययन और इनकी समालोचना की सीमा सूर और तुलसीदास पर मोटी मोटी ऐसी पोथियाँ लिखने तक है, जिनसे अधिक तत्त्वपूर्ण और चमत्कारपूर्ण निबन्ध हमारे होनहार लड़के क्लास में लिखते हैं। ग्रियर्सन ने तुलसीदास पर जो कुछ लिख दिया है, वैसा लिखना तो दरकिनार, उसका समझना भी

इन आचार्यों के बस की बात नहीं। इनकी मोटी-मोटी पोथियाँ देख-कर तो यही कहना पड़ता है कि मियाँ की दौड़ मस्जिद तक। इस नीच कोटि के काम का कारण एक तो यह है कि प्रतिष्ठा और साहित्य-शास्त्र की पदवी पर बहुत छोटे आदमी विद्यमान हैं। दूसरा कारण यह है कि अँगरेजी के विश्व-साहित्य के और विश्व-संस्कृति के स्पर्श से हिंदी वाले छुईमुई की तरह डरते हैं।"

इन शब्दों से श्री रघुपतिसहाय की हेकड़ी समझ में आ जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि सूर और तुलसी पर आलोचना लिखकर जिन लोगों ने "नीच कोटि का काम" किया है, उनमें स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक भी हैं। किसी भी भाषा और साहित्य में इस तरह की अपमानजनक बातों को तरह नहीं दी जा सकती। ऐसी ही बातें उन्होंने हिन्दी कवियों के बारे में कही हैं। "तरुण" में जिन कवियों को फूहड़ बताया गया है, उनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त, स्वर्गीय प्रसादजी, निरालाजी, श्री सुमित्रानन्दन पंत आदि हिन्दी के सभी सर्व-मान्य कवि आ जाते हैं। कहावतों और मुहावरों के बारे में लिखते हुए आपने हिन्दी-कवियों पर राय दी है—"आज कुछ साहित्यसेवी गँवारों के हाथों हिन्दी की इन्हीं चीजों का खून हो रहा है।" याद रखिए कि हिन्दी के महान् कवि साहित्य-सेवी गँवार नहीं हैं और जो उनको ऐसा कहेगा, उसे मुँह तोड़ उत्तर मिलेगा। श्रीरघुपतिसहाय कहते हैं—"मैं झल्लाहट में बहुत कुछ कह गया।" मानो इससे उनकी असभ्यता पर पर्दा पड़ जायगा।

हिन्दी-प्रेम को वह एक खतरनाक नशा बताते हैं और स्वयं जिस नशे में जबान को बेलगाम छोड़ देते हैं, उसका जिक्र नहीं करते। कहते हैं—"उर्दू कवि हिन्दी की चिंदी करते हैं तब जाके मातृ-भाषा चमक उठती है और बिना ऐसा किये हिन्दी का भविष्य संतोषजनक नहीं हो सकता।" किसी चीज की चिंदी करने का अर्थ है, उसके रूप को बिगा-ड़ना। अगर उर्दू-लेखक हिन्दी की चिंदी करते हैं तो इससे आपको बड़ी खुशी होती है। आपका विचार है, बिना हिन्दी की चिंदी किये

उसका भविष्य संतोषजनक नहीं हो सकता । हिन्दी की चिंदी न की गई तो उसका प्रचार "पूरे हिन्दू-जाति को गँवार बना देगा, पढ़ा लिखा गँवार ।"

श्री रघुपतिसहाय हिन्दी पढ़ने-लिखने वाले गँवारों को हिन्दी की चिंदी करके अपनी सभ्यता का परिचय देने पर तुले हुए हैं । हिन्दी में एक शब्द है "कृति"। फिराक को इस शब्द से कुछ विशेष मोह है । इसके पर्यायवाची दूसरे सरल शब्द हैं, परन्तु हिन्दी न जानने के कारण उनमें जो हीन भावना घर कर गई है, उससे प्रेरित होकर वह कठिन शब्दों का प्रयोग करने से बाज नहीं आते । उल्टा हिन्दी वालों पर दोष लगाते हैं कि "पेट परे गुन करी" वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए वे बिना समझे हुए संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करते हैं । हिन्दी शब्द "कृति" की जब चिंदी होती है तब वह हो जाता है, "कीर्ति" ! अब इसका प्रयोग देखिए—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं इसके लिए उधार खाये नहीं बैठा हूँ कि हो न हो मैं हिन्दी-कवियों की कीर्तियों पर एतराज करूँ ।" और इस तरह हिंदी की चिंदी न की जाय, तो हिंदी का भविष्य उज्ज्वल न होगा ! दूसरा उदाहरण लीजिए । बात है मुहावरों की । इनका बहुत बड़ा खजाना "हिन्दी-कवियों के यहाँ तो नहीं, लेकिन उर्दू-कवियों और साहित्यिकों की कीर्तियों में बिखरा पड़ा है ।" यह शब्द श्रीरघुपतिसहाय को कितना प्रिय है, इसका एक प्रमाण और लीजिए—"इनकी कीर्तियाँ महान् साहित्य तो नहीं हैं लेकिन कई अर्थों में उच्च कोटि की हैं ।" बताइए, इनकी कीर्तियाँ महान् साहित्य हो जायँगी तो आपने हिन्दी में जो "कीर्ति" रची है, उसका क्या होगा ? श्रीरघुपति सहाय से कोई कहता है कि आपको हिन्दी नहीं आती तो आप चिढ़ जाते हैं और कहते हैं—यानी अपने लेख में लिखते हैं—"मुझे इस तरह अपनी बेरादरी से बाहर तो न कीजिए ।" कोई बेरादर से पूछे, अगर हिन्दी सीख ही लोगे तो क्या बिगड़ जायगा ।

श्री रघुपति सहाय आदिकाल से या उपनिषदों से कम बात नहीं करते । बीस बरस तक आपने हिन्दू दर्शन का अध्ययन किया है परन्तु

अभी अध्यात्मवाद साफ-साफ मुँह से नहीं निकलता। उसकी चिंदी करके आप उसे "आध्यात्मवाद" ही कहते हैं। इसी तरह पुनरुक्ति की चिन्दी करके उके "पुनरोक्ति" बनाते हैं। लेकिन ये सब बारीक बातें हैं। होनहार आलोचक को अभी हिन्दी पढ़ने की भी तमीज़ नहीं है। "देशदूत" के वाद-विवाद में आप इस बात पर मचल गये थे कि हम हुँकार को "हुँकार" ही पढ़ेंगे और बड़े आत्मविश्वास के साथ आपने लिखा था कि हिन्दी में "हुँकार" जैसा कोई शब्द ही नहीं है। वैसे तो दुनिया बुद्धिमानों से खाली नहीं है लेकिन इनका जोड़ीदार मिलना मुश्किल है। यही हैं वह विद्वान्—जिनको अभी ठीक-ठीक हिंदी का अक्षर-ज्ञान भी नहीं हुआ—जो समग्र हिन्दी-साहित्य और हिन्दी लेखकों पर धूल बरसाने पर उतारू हैं। साहित्य के मर्म तक पहुँचना और बात है, यहाँ प्राइमरी शिक्षा का यह हाल है कि हुँकार सामने लिखा हुआ देखकर भी उसे हुँकार ही पढ़ते हैं। आपके होनहार विद्यार्थी हिन्दी के आचार्यों से अच्छे लेख लिख लेते हैं; उन विद्यार्थियों के होनहार अध्यापक जी अभी साबित हिन्दी भी नहीं पढ़ पाते।

अपने अज्ञान पर पर्दा डालने के लिए श्री रघुपतिसहाय उपनिषदों का अक्सर जिक्र करते हैं। लेखों में यह दिखाना चाहते हैं कि उन्होंने समग्र भारतीय साहित्य को मथ डाला है। हिन्दी के प्रचलित शब्द भी आपको अपनी विद्वत्ता के कारण अप्रचलित मालूम पड़ते हैं। उन्हें हर जगह हिन्दी आन्दोलन का भूत दिखाई देता है। आपके विचार से हिन्दी आन्दोलन के कारण रात की जगह निशा, दिल की जगह उर, अपने की जगह निज, मार्ग या रास्ते की जगह मग, हाथ की जगह कर आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। ध्यान देने की बात है कि मार्ग या रास्ते की जगह भी संस्कृत शब्द मग का प्रयोग होने लगा है! तद्भव और तत्सम की कनफोड़ तोतारटंत के बाद भी आपको अभी यह तमीज नहीं हुई कि मार्ग शब्द तत्सम है या तद्भव। आपकी समझ में निशा 'निज' उर आदि के प्रयोग से ठेठ भाषा का गला घोट दिया गया है। आपने भाषा-विज्ञान का गला घोट दिया है, वह कुछ नहीं।

अब देखिए जिन शब्दो पर आपने आपत्ति की है उनका पुरानी हिन्दी में बराबर प्रयोग होता रहा है या आधुनिक हिन्दी में हिन्दी आन्दोलन के कारण उनका प्रयोग होने लगा है। यह भी देखिए कि वे भारत की अन्य भाषाओं की भी संपत्ति हैं या केवल हिन्दी वालों को उन शब्दों से विशेष मोह है। पहले "निशा" शब्द लीजिए। आपने तुलसीदास जी का यह गीत सुना है-"अब लौं नसानी अब ना नसैहों।" उसी की दूसरी पंक्ति हैं—"रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे अब न डसैहों।" तुलसीदासजी पर भी हिंदी-आंदोलन की छाया पड़ चुकी थी। और देखिए राम-चरितमानस में—

"निसाघोर गंभीर बन, पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह, जाएहु होत बिहान॥"

आपको छोड़कर और किसी को भी यह समझाने की आवश्यकता न होती कि निशा "निज" उर आदि शब्द हिन्दी-आन्दोलन के कारण नये कवियों को प्रिय नहीं हो गये हैं। लेकिन आप भी हैं इस दुनिया के समझदारों, में इसलिए उद्धरण देकर आपको समझाने की जरूरत है कि इन शब्दों का प्रयोग प्रायः तब से होता चला आया है जब से हिंदी का जन्म हुआ था। रामचरितमानस से—जो हिंदुस्तान का सबसे लोक प्रिय ग्रन्थ है, शायद आप भी इस बात को जानते होंगे, उसे पढ़ा न हो यह दूसरी बात है— कुछ उदाहरण और लीजिए—

"उठे लखन निसि बिगत सुनि, अरुनसिखा धुनि कान।
गुरु ते पहले जगतपति, जागे राम सुजान॥"

"गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी।
प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥"

अब हिन्दी-आन्दोलन के कारण इस शब्द का बँगला में प्रयोग देखिए। श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से उदाहरण लीजिए—

"जागो सहचरी, आजिकार निशि भुलो ना।" (वर्षामंगल)

"कोन फागुनेर शुक्ल निशाय
यौवनेरि नवीन नेशाय।" (सेकाल)

"निशिदिन धरे दाँडाये शियरे मोर पुरातन भृत्य"।

(पुरातन भत्य)

आप यदि कहें कि बँगला में रात को निशा ही कहते हैं - तो भी कोई आश्चर्य की बात न होगी। बँगला में रात्रि और रात का भी प्रयोग होता है, यह बात जान लीजिए और यह भी याद रखिए कि उसके पर्यायवाची रजनी, विभावरी, यामिनी आदि शब्दों का भी आवश्यकता पड़ने पर बराबर प्रयोग होता है।

अब "उर" शब्द लीजिए। इसका प्रयोग भी हिन्दी कवि हिन्दी-आन्दोलन के कारण करने लगे हैं। विहारी का यह दोहा याद कर लीजिए—

"तो पर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी सुजान ॥"

अगर आपने रामचरितमानस पढ़ा होता, तो आरंभ में ही देखते—

"करौ सो मम उरधाम, सदा छीर सागर सयन।"

और उदाहरण भी लीजिए—

"उर धरि धीर राम महतारी।
बोली बचन समय अनुसारी ॥"
"सूत बचन सुनतहि नरनाहू।
परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥"

"लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि।"

"भरत न राजनीति उर आनी।
तब कलंकु अब जीवन-हानी ॥"
"लीन्ह राय उर लाइ जानकी।
मिटी महामरजाद ज्ञान की ॥"
"खरभरु नगर सोचु सब काहू।
दुसह दाहु उर मिटा उछाहू ॥"
"अस विचारि उर छाँड़हु कोहू।

सोक कलंक कोठि जन होहू ॥"
"दीन्ह असीस लाइ उर लीन्हें ।
भूषन बसन निछावरि कीन्हें ॥"
"बचन बिनीत मधुर रघुबर के ।
सरसम लगे मातु उर करके ॥"

हिन्दी आन्दोलन के कारण यह शब्द तुलसीदास को इतना प्रिय हो गया था कि वह औसतन् हर दूसरे पृष्ठ पर उसका प्रयोग करते थे। श्री रघुपतिसहाय अरबी फारसी के शब्दों से हिन्दी के शब्द-कोष को भरने की बड़ी लम्बी चौड़ी बातें करते हैं; परन्तु जिन शब्दों का तुलसी से लेकर अब तक हिन्दी कविता में बराबर प्रयोग होता रहा है, उनसे हिन्दी का शब्द कोष खाली कर देना चाहते हैं। "उर" शब्द की लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि श्री रघुपति सहाय ने भी अपनी एकमात्र हिन्दी कविता में उसका प्रयोग किया है। लेकिन प्रयोग कितना सुन्दर होता है—

"उफ कवि का उर! कितने युग
प्रतिक्षण आते हैं काम यहीं।"

यह है पेट "परे गुनकरी" की नीति। उर शब्द को गाली भी देते जाते हैं परन्तु अपनी हीन भावना के कारण यह भी दिखाना चाहते हैं कि हम उसका प्रयोग कर सकते हैं। "उफ कवि का उर!" फूहड़पन की इससे बढ़िया मिसाल और कहाँ मिलेगी ?

अब "निज" शब्द लीजिए। यह शब्द इतना प्रचलित है कि श्री रघुपति सहाय को छोड़कर और कोई न कहता कि इसका प्रयोग हिन्दी-आन्दोलन के कारण होने लगा है। देखिए रामचरितमानस में ही निज शब्द का प्रयोग—

"सिर धरि मुनिवर बचन सब, निज निज काजहिं लाग।"
"तुम्हहिं न सोच सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।"
"का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना।

निज हित अनहित पसु पहिचाना ।"
"निज प्रतिबिंब बरुकु गहि जाई ।
जानि न जाइ नारिगति भाई ॥"
"तहँ सियरामु सयन निसि करहीं ।
निज छबि रति मनोज मृदु हरहीं ॥"

"निसा" की तरह "निज" शब्द भी भारतीय भाषाओं की सम्पत्ति है, हिन्दी आन्दोलन के कारण हिन्दी कवियों का ही प्रिय शब्द नहीं है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में "निज" शब्द के उदाहरण देखिए—

"के लये छे निज शिरे राजभाले मुकुटेर सम
सविनये सगौरवे धरामाझे दुख महत्तम ।"

(भाषा ओ छंद)

"सन्यासी बसि आड़ष्ट शिर तुलि निल निज अंके ।"

(अभिसार)

"छूटे जेन निज नीड़े ।"

(बन्दी वीर)

"कहिल—इहारे बधिते हइबे निज हाते अवहेले ।"

(बन्दी वीर)

अगर किसी को प्रमाण की जरूरत हो तो ऊपर के उदाहरणों से उसे इस बात का प्रमाण मिल जायगा कि आधुनिक बँगला आदि भाषाओं में तथा पुरानी हिन्दी में 'निज' शब्द का बराबर प्रयोग होता रहा है। हिन्दी आन्दोलन के कारण हिन्दी कवियों ने उसे नहीं अपना लिया। अज्ञान की भी कोई सीमा होती है। एक साथ कोई इतनी ऊटपटाँग बातें कहे तो उसे उत्तर भी कैसे दिया जाय।

इसी तरह "कर" शब्द का बँगला और पुरानी हिंदी में बराबर प्रयोग मिलेगा। "विषभांड लये बाम करे"—श्री रवीन्द्रनाथ, और "पुनि पुनि बिनय करिअ कर जोरी"—गोस्वामी तुलसीदास। सबसे मनोरंजक आपत्ति आपकी मग और मार्ग के बारे में है। हिन्दी कवियों ने पंडिताऊपन

और संस्कृत-प्रेम के कारण मार्ग की जगह "मग" लिखना शुरू कर दिया ! हिन्दी प्रेम के खतरनाक नशे के कारण तुलसीदास जी ने "मग" जैसे शुद्ध तत्सम का प्रयोग बहुतायत से किया है। उदाहरण लीजिए—

"हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं।
नयन मूँदि बैठी मग माहीं॥"
"अति अकेल बन बिपुल कलेसू।
तदपि न मृगमग तजहि नरेसू॥"
"लोचन मग रामहिं उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥"
"ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना।
रचे बादि बिधि बाहन नाना॥"
"मृदु पदकमल कठिन मगु जानी।
गहबरि हृदय कहइ बरबानी॥"
"एहि बिधि रघुकुल-कमल रबि, मगलोगन्ह सुख देत।"
"प्रभुपद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥"
"एहि बिधि भरत चले मग जाहीं।
दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं॥"
"मगबासी नरनारि सुनि, धाम काम तजि धाइ।"
"भरतदरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग।"

अब श्री रघुपति सहाय को मान जाना चाहिए कि हिन्दी आन्दोलन के बारे में उन्हें बहुत बड़ी गलतफहमी थी। न मानें तो इसमें मेरा दोष नहीं। मैं नहीं समझता कि जिसने रामचरितमानस के दो पन्ने भी पढे होंगे वह कह देगा कि निशा, निज, उर, मग आदि शब्दों का प्रयोग नये हिन्दी कवि हिन्दी आन्दोलन के कारण करने लगे हैं।

हमारे आलोचक जी को हिन्दी के विकास और इतिहास का जैसा ज्ञान है, वैसा ही प्रेम उन्हें हिन्दी शब्दों की ध्वनि से भी है हिन्दी कविता के ध्वनि सौंदर्य को आप झंकार-टंकारकहकर टाल देते हैं। पंत जी की

दो पंक्तियाँ हैं—

"गंध मुग्ध हो अन्ध समीरण
लगा थिरकने बारम्बार।"

इस पर आपकी टिप्पणी है—"अगर आपके कान सड़ नहीं गये हैं या पत्थर नहीं हो गये हैं और अगर आपकी अक्ल मारी नहीं गई है तो इन पंक्तियों को तीन-चार बार दोहराइए, तबीयत बदमज़ा हो जायगी। 'गंध अंध', का तालसम भी अनुपम है जिसके पर्दे से देहाती कवित्त कहने वालों का गँवारपन झाँक रहा है।"

क्या अडिग आत्मविश्वास है! क्या आत्मप्रवंचना है! गन्ध-अन्ध की बात याद रखिए और अपने कानों के पर्दे ठीक करके जरा पढ़िए स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इन पंक्तियों को—

"कुडिर भितर काँदिछे गंध अंध हये—
काँदिछे आपन मने"।

जरा फिर तो कहिए कि गंध-अन्ध का ताल सम अनुपम है और उसके पर्दे से देहाती कवित्त कहने वालों का गँवरपन झाँक रहा है। जिन लोगों ने भारतीय साहित्य को देखा तक नहीं है, केवल दूर से उसे मुँह बिदकाना सीखा है, अगर वे ही इस तरह की बातें न करेंगे तो और कौन करेगा! एक उदाहरण "गँवर पन" का और लीजिए। "उर्वशी" श्रीरवींद्रनाथ की अत्यंत प्रसिद्ध कविता है। उसी में उनकी पंक्ति है,

"तोमार मदिर गंध अंध वायु बहे चारिभिते।"

अब समझिए, गँवरपन श्री रवीद्रनाथ ठाकुर और श्रीसुमित्रा नंदन पंत में है या आप में।

श्रीरघुपतिसहाय के विचित्र संस्कार हैं। कहो खेत की तो सुनते हैं खलिहान की। पंतजी की एक पंक्ति में लोचन शब्द देखकर आपको गाँव के पंडित रामलोचन पाँड़े की याद आ जाती है। फ़रमाते हैं—"मुझे तो इस लोचन शब्द से अपने गाँव के पं० रामलोचन पाँड़े याद आ जाते हैं। बेचारे मर गये बहुत अच्छे आदमी थे। नीचे की पंक्तियाँ पढ़िए और याद कीजिए अपने गाँव के पं० रामलोचन पाँड़े को।

"देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहचाने॥"
"सब दुख दुसह सहावउ मोही।
लोचन ओट राम जनि होहीं॥"
"सुनि मृदु वचन मनोहर पिय के।
लोचन ललित भरे जल सिय के॥"

अपनी अपनी रुचि और अपने अपने संस्कार। लोचन शब्द देखकर आपको पं० रामलोचन पाँड़े याद आ ज ते हैं और "उदित उदय गिरि मंच पर, रघुवर बाल पतङ्ग"—इस सुन्दर पक्ति में पतंग शब्द देखकर आपको पतंग उड़ाने की याद आ जाय तो क्या आश्चर्य !

हिन्दी में एक शब्द है "कमल"। इस शब्द को क्या हिन्दी में क्या बँगला में और क्या भारत की अन्य भाषाओं में सभी छोटे बड़े कवि अपनी कविता में प्रयुक्त करते रहे हैं। श्री रघुपतिसहाय ने पता लगाया है कि यह शब्द पूर्ण रूप से सभ्य नहीं है और उसमें संगीत की भी कमी है। कमल का उच्चारण "कँवल" होना चाहिए। फर्माते हैं—"जिसे संस्कृत और हिन्दी में कमल कहते हैं, उसे उर्दू में कँवल कहते हैं। किस शब्द की ध्वनि अधिक सभ्य और संगीतपूर्ण है, इसे निष्पक्ष रूप से आप ही सोचिए।" कहना चाहिए कि तुलसीदास और रवींद्रनाथ को सभ्यता और संगीत की उचित शिक्षा न मिली थी जो वे कमल जैसे अर्द्ध सभ्य और संगीतशून्य शब्द का प्रयोग करते रहे थे।

श्री रघुपतिसहाय को जैसे कमल शब्द पसन्द नहीं है, वैसे ही उन्हें उन तमाम शब्दों पर भी आपत्ति है जिनके किसी व्यंजन में र या ऋ जुड़ी होती है। उन्हीं की सभ्य शब्दावली में-"हिन्दी में किसी व्यंजन का पेट या मुँह फाड़कर उसीमें से 'र' का शब्द निकालना शोभा नहीं देता। यह रोग आजकल की हिंदीं में बहुत फैल रहा है।" अपने अडिग आत्म-विश्वास के साथ आप कहते है—"कबीर से लेकर अब से पचास बरस पहले तक के हिन्दी कवियों ने इस बेतुकेपन और इस बेअटकली का सबूत नहीं दिया था।" मेरा दावा है कि किसी भी देश और किसी

भी काल में इस अटकल का आलोचक न मिलेगा। जरा रामचरितमानस खोलिए और निकालिए एक भी ऐसा पृष्ठ—मेरे शब्दों पर ध्यान दीजिए— एक भी ऐसा पृष्ठ जिसमें दो चार जगह किसी व्यंजना में र न जोड़ा गया हो। हिन्दी भाषा की प्रकृति को आपने क्या खूब पहचाना है। मातृ भाषा और प्रेम जैसे शब्द आपके मुंह से कैसे निकल जाते हैं या इन शब्दों की भी चिन्दी करके आप उन्हें बोलते हैं। रामचरितमानस के पहले ही पृष्ठ पर आपको ये शब्द दिखाई देंगे—द्रवौं, कृपा, दृष्टि, दृग, मृदु, श्री, प्रसूती, प्रगट, कृपासिंधु इत्यादि। यह बेअटकली का सबूत है यह बेतुकापन है। मालूम होता है, हिन्दी पढ़ने का घर पर ही अभ्यास किया है और बहुत जल्दी अपने आपको हिन्दी साहित्यिकों की आलोचना करने योग्य समझ लिया है। हिन्दी कवियों के लिए आपने लिखा है कि वे "अपने को सुकरात न समझें"। अब देखिए सुकरातपन की गन्ध किधर से आ रही है।

मुंशीजी ने जिन शब्दों से खफा होकर यह बेअटकली और बेतुकेपन की बात कही है, वे शब्द हैं, मृदु और स्मृति। ये शब्द भारतीय साहित्य में इतने प्रचलित हैं कि सहसा किसी को विश्वास न होगा कि इनके प्रयोग पर किसी को बेतुकेपन की बात लिखनी पड़ी होगी। लेकिन जब लिखने वाले श्री रघुपतिसहाय हों तब सब कुछ सम्भव है। यदि किसी को विश्वास न हो तो जुलाई सन् ४२ का "तरुण" उठा कर पृष्ठ २७८-७९ देख ले। अब मृदु शब्द के उदाहरण रामचरितमानस से लीजिए—

"गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन।
नयन अमिय दृगदोषविभंजन॥"
"करि पूजा मुनि सुजस बखानी।
बोले अति पुनीत मदु बानी॥"
"देखि स्याम मृदु मंजुल गाता।
कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥"
"तब कर जोरि जनक मृदु बानी।

बोले सब बरात सनमानी ॥"
"पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई ।
जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई ॥"

मृदु शब्द ही नहीं, मृग, नृप, तृषित,सुहृद्, गृह, मृतक, हृष्ट, मृदुल, भृकुटि आदि पचीसों शब्द आपको रामचरितमानस में बराबर प्रयुक्त होते दिखाई देंगे। क्या बात कही है मुंशी रघुपतिसहाय ने—कबीर से लेकर अब से पचास बरस पहले तक के हिन्दी-कवियों ने इस बेतुकेपन और बेअक्लो का सबूत न दिया था !

अब देखिए जिस स्मृति शब्द को आप हिन्दी से निकाल देना चाहते हैं—क्योंकि आप उसका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकते—उस शब्द को श्री रवींन्द्रनाथ ठाकुर अपनी कविता में कितने प्रेम से जगह देते हैं—

"एने दिस् अतीतेर स्मृति।"
(संध्या)
"बाँधिस् ने स्मृति बाहिनी।"
(उद्‌बोधन)
"कतो जे सुखेर स्मृति ओ दुखेर प्रीति।"
(यात्राशेष)
"ताहादेर स्मृति आज वायुभरे
उड़े जाय दिल्लीर पथेर धूलि परे।"
(शाजहान)

यदि आप समझते हैं कि बँगला में "स्मृति" का उच्चारण सरल हो जाता है तो किसी से सुनकर उस शब्द का उच्चारण कीजिए और देखिए वह अपनी हँसी रोक पाता है या नहीं।

जैसे आप भारतीय भाषाओं के जानकार हैं, जैसा आपने उन भाषाओं के साहित्य का गहन अध्ययन किया है, वैसी ही उच्चकोटि की आपकी आलोचना भी होती है। एक तरह की आलोचना तो वह है, जिसमें हिन्दी-कविता के लिए मुर्दा, बेजान, फूहड़, सिलपट, ठस आदि

विशेषणों की भरमार रहती है। दूसरी तरह की आलोचना प्रश्नों के रूप में होती है–अब इस "भी" की मिसाल मैं हिंदीमें कहा पाऊँ? और तीसरी किस्म है वह जहाँ उर्दू शेरों की प्रशंसा में वह बागबाग हो जाते हैं। साहित्य का इतिहाससे भी सम्बन्ध है, मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक आधार पर भी उसकी व्याख्या हो सकती है, इन सब बातों पर आपने विचार नहीं किया। जिन लोगों ने विचार किया है, उन्होंने आलोचना लिखकर नीच कोटि का काम किया है। कभी-कभी किसी शेर से इतिहास का सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करते हैं, लेकिन बुरी तरह धोका खाते हैं। उर्दू शेरों में बिजली और कफस की कमी नहीं है। मोमिन के इस शेर में—

"डरता हूँ आसमान से बिजली न गिर पड़े।
सैयाद की निगाह सुये आशियाँ नहीं।"

आप दिल्ली पर अहमदशाह, नादिरशाह, जाट और अंगरेजों के हमलों का वर्णन पढ़ लेते हैं। आज अगर कोई ऐसा शेर लिखे तो श्री रघुपतिसहाय उसमें जापानी हमला, रूस-जर्मनी की लड़ाई और शायद पिछली और एक आगे आने वाली लड़ाई का वर्णन भी ढूँढ निकालेंगे! लेकिन बात आपके इतिहास-ज्ञान की है। जिस बात को किसी हाईस्कूल का विद्यार्थी भी जानता है, उसी के बारे में आप लिखते हैं—"मोमिन के ज़माने के कुछ पहले दिल्ली पर अहमदशाह दुर्रानी का हमला हुआ था और फिर बाद को नादिरशाह का।" आपको दृढ़ विश्वास है कि नादिरशाह ने अहमदशाह के बाद हमला किया था; इसलिए बिना किसी झिझक के लिखते हैं—"फिर बाद को नादिरशाह का।" मान लीजिए, आपको सन् याद न रहा, लेकिन इतना तो मालूम होना चाहिए था कि नादिरशाह का हमला पहले हुआ था। जब इतना भी नहीं जानते, तब मोमिन के शेरों में ऐतिहासिक घटना ढूंढ़ने क्यों चले थे? लेकिन आपका आत्मविश्वास देखने लायक है। कहते हैं—"सजग और सीकचा अध्यापक बड़ा खतरनाक आदमी होता है।" कहना चाहिए

कि वह इतना खतरनाक होता है कि अपने पैर में खुद ही कुल्हाड़ी मार लेता है।

आपकी आलोचना सबसे बढ़िया तब होती है, जब आप आपने दिल में शेरों के नश्तर चुभोते हैं। सुनिए—

"बड़े मार्के का शेर है।"

"क़यामत का शेर है।"

"इस अनुभव में कितनी करुणा है। ऐसे ही शेर को नश्तर कहा जाता है।"

"दो-तीन बार इस शे को गुनगुनाइए। अधिक व्याख्या की जरूरत नहीं।"

"शेर एक नर्म नश्तर है जो दिल में उतरता जा रहा है और एक ही साथ जलन और ठंडक पैदा करता जा रहा है।"

"क्या शेर कहा है। तड़पना चाहिए तो तड़प भी नहीं सकते।"

"यह दिल के उस घाव की तरफ इशारा करता है जो मरहम रखने से और दुखे।"

"कितना नाजुक शेर कहा है।"

कहने का मतलब यह कि हजरत फिराक आलोचना के नाम पर इसी तरह बटेरें लड़ाया करते हैं। कभी-कभी सच्ची बातें भी कह जाते हैं, जैसे—"मैं संस्कृत के श्लोकों पर उन्हें बिला समझे हुए सर धुनता हूँ।" लेकिन फिर बहक कर कहते हैं—"मैं "छाँदोपनिषद" तो समझ जाता हूँ, हिन्दी-कविता क्यों नहीं समझ पाता!"

कभी-कभी आप तुलनात्मक आलोचना भी करते हैं। एक लेख के अन्त में आपने उर्दू शेरों की व्याख्या करते हुए गीता, गीतगोविन्द, कालिदास और अन्य संस्कृत नाट्यकार और "भारतवर्ष को अन्य भाषाओं के कवियों की कल्पना और रचना और ध्वनि" को एक साथ याद कर डाला है। दुर्भाग्य से आपने संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से उद्धरण नहीं दिये, नहीं तो आपकी आलोचना विश्व-साहित्य की एक देन होती। फिर भी श्लोक न सही, भारतीय संस्कृति से अपने परिचय

पर यथासंभव प्रकाश डालते रहते हैं। दाग़ का एक शेर है—

"मेरे आशियाने में थे चार तिनके।"
चमन लुट गया आँधियों आते-आते।"

क्या नाज़ुक खयाली है। "चमन लुट गया आँधियाँ आते-आते!" और आशियाने में कुल चार तिनके! अब इस शेर में शिव के तांडव-नृत्य का ओज देखिए। श्रीरघुपतिसहाय की आँखों से देखिये, "बर्बादी के विषय को भी ओज और ज़ोश से कवि ने भर दिया है और अपने जिंदा दिली का सबूत दिया है। शिव के तांडवनृत्य में भी यही जोश है।" गोया शिव का ताण्डवनृत्य और मिस अजूरी का नाच एक ही चीज़ हैं।

अभी तो तांडवनृत्य का सम्बन्ध बरबादी से ही था। आगे चलकर इसी से पुनर्निर्माण भी होगा। सुनिए—"यहाँ से वो आँधियाँ उठीं जिन्होंने विनाश और पुनर्जीवन अथवा पुनर्निर्माण का तांडवनृत्य नाचा।" यह आँधियों का नाच है, जो विनाश के साथ पुनर्निर्माण भी करता है! श्री रघुपतिसहाय को चाहिए कि उदयशंकर की नृत्यशाला में अब कुछ ऐसे होनहार विद्यार्थी तैयार करें, जो आँधियों का पुनर्जीवन तांडव भी नाचें और उदयशंकर को वैसे ही छोटा आदमी साबित कर दें, जैसे उनके विद्यार्थियों के निबन्ध हिन्दी के आचार्यों की "कीर्तियों" को बहुत छोटी चीज साबित कर देते हैं!

तुलनात्मक आलोचना का एक और अनोखा उदाहरण देख लीजिए। वैसे तो श्री रघुपतिसहाय को उर्दू शेरों के टक्कर की पंक्तियाँ हिन्दी में मिलती नहीं हैं; फिर भी एक बार एक पंक्ति मिल गई थी और उसे उन्होंने प्रशंसा के साथ उद्धृत कर दिया था। शेर है—

"क्या ढूँढ़ती है बाग में मेरे तू ऐ खिज़ाँ।
तू जानती है सबके चमन में बहार है!"

अब इस पर टिप्पणी सुनिए—"ऐसे ही शेर को नश्तर कहा जाता है। अभी बाग में खिज़ाँ आई भी नहीं और बाग कहता है कि हम तो बेखिज़ाँ के उजड़ चुके।" इसके बाद तुलना के लिए यह पंक्ति दी गई

है—"मैं पापिन ऐसी जली, कोयला भई न राख।" गीता, उपनिषद्, कालिदास आदि-आदि का नाम लेने के बाद श्री रघुपतिसहाय ने उर्दू शेर की तुलना के लिए जो पंक्ति उद्धृत की वह "कोयला भई न राख" वाली। पाठक यह न समझें कि श्री रघुपतिसहाय ने उस शेर का मजाक उड़ाया है। वह शेर उनके पूज्य पिताजी का लिखा हुआ है। मजाक की गुञ्जायश ही न थी। जब "कोयला भई न राख" वाला ही स्टैंडर्ड है तो बार-बार यह कहने की क्या जरूरत है कि अब इस शेर की टक्कर की पंक्तियाँ हिन्दी में कहाँ मिलें। आप बेकार ऐसी चीजें प्रसाद, निराला, पंत आदि की रचनाओं में ढूँढ़ते हैं। "कोयला भई न राख" या "आँगना में गिल्ली खेले" जैसी पंक्तियाँ आपको आँधियों के नाच के साथ सड़कों पर उड़ती मिल जायँगी। आप उन्हें उद्धृत करके भारतीय साहित्य के अपने गम्भीर अध्ययन का परिचय दे सकेंगे। गीता और कालिदास का नाम लेकर दूसरों को प्रभावित करने की जरूरत भी न पड़ेगी।

अब श्री रघुपतिसहाय स्वयं इस बात का निर्णय करें कि जिस व्यक्ति का हिन्दी का अक्षर-ज्ञान इतना है कि वह हुँकार को "हुँकार" पढ़ता है, जिसका शब्द-ज्ञान इतना है कि कृति को बराबर "कीर्ति" लिखता है, जिसके साहित्यिक संस्कार ऐसे प्रबल हैं कि लोचन शब्द को देखकर उसे अपने गाँव के पं० रामलोचन पाँड़े की याद आ जाती है, जिसे हिन्दी-भाषा के विकास का इतना अच्छा ज्ञान है कि निशा, निज, उर आदि शब्दों के प्रयोग का कारण उसे हिन्दी-आंदोलन मालूम होता है, जिसके कानों के पर्दे इतने कोमल हैं कि "कमल" शब्द से भी वे झनझना उठते हैं, जिसकी ज़बान इतनी नाज़ुक है कि प्रेम या मृदु जैसे शब्दों का भी उच्चारण नहीं कर पाती, जिसने हिन्दी-साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन करके यह परिणाम निकाला है कि 'र' से जुड़े व्यंजन हिन्दी-शब्दों की प्रकृति के विपरीत हैं, जिसे ध्वनि-सौंदर्य की इतनी परख है कि किसी कवि की पंक्ति में गन्ध-अन्ध को एक साथ आते देखकर उन्हें गँवारपन का सबूत कह सकता है, जो स्वयं दिल में शेरों के नश्तर

लगाता है और हिन्दी-आलोचकों की "कीर्तियों" को नीच कोटि का काम बतलाता है, जो उर्दू शेरों में कभी विनाश का तांडव देखता है और कभी रेगिस्तान में पुनर्निर्माण का तांडवनृत्य करता है, जो समझता है कि आधुनिक हिन्दी का विकास या सत्यानास ब्राह्मणत्व के कारण हो रहा है और हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों की रचनाएं फूहड़ हैं और वे स्वयं साहित्य-सेवी गंवार हैं—ऐसे व्यक्ति के लिए मैं श्री रघुपतिसहाय से ही पूछता हूँ कि कौन से विशेषण उपयुक्त होंगे ? खैर, विशेषण न मिलें, मैं उनकी विशेषताओं से हिन्दी- पाठकों को परिचित करता रहूँगा।

श्री रघुपतिसहाय को हिन्दी-कवियों से सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में संस्कृत-शब्दों की भरमार कर दी है। उनकी समझ में इसका कारण ब्राह्मणत्व या पंडिताऊपन की भावना है। मैंने पहले दिखाया है कि हिन्दी-आन्दोलन के बारे में उन्हें बहुत बड़ी गलतफहमी हुई है। जिन शब्दों का प्रयोग ब्राह्मणत्व या हिन्दी-आन्दोलन के कारण होने लगा है, उनका प्रयोग हिन्दी के पुराने कवि और आधुनिक भारतीय भाषाओं के अन्य कवि भी बराबर करते रहे हैं। इसी तरह मृदु या स्मृति जैसे शब्दों को हिन्दी से यह कहकर नहीं निकाला जा सकता कि इनमें तो व्यंजना के मुँह में 'र' घुसा हुआ है। मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि श्री रघुपतिसहाय को अभी ठीक-ठीक तत्सम और तद्भव रूपों की परख नहीं है। हिन्दी की चिन्दी करने के लिए वह जरूर उतावले रहते हैं। कीर्ति, पुनरोक्ति, आध्यात्मवाद उनके अनुपम भाषा-ज्ञान के साक्षी हैं। परन्तु इस तरह की नीति वह फारसी-शब्दों के साथ नहीं बरतना चाहते। औरत के बहुवचन में 'र' को हलंत होना चाहिए। ऐसे ही रेशम से विशेषण बतायें तो उसमें 'श' भी हलंत हो जाना चाहिए। अगर हिसाब लगाया जाय कि फारसी-शब्दों के कितने तद्भव रूपों को उन्होंने अपनाया है तो उनकी तद्भव-नीति का भंडाफोड़ बड़ी आसानी से हो जायगा। फारसी से तद्भव रूप बनाने की वह जरूरत नहीं समझते। स्वाति का "सिवाती"

करना जरूर वांछनीय है। हिन्दी में तद्भव रूपों से किसी को परहेज नहीं है। क्षण को छिन, किरन और इस तरह के सैकड़ों रूप हिन्दी-कविता में प्रचलित हैं, उन कवियों की रचनाओं में भी जो संस्कृतबहुल भाषा से एक खास तरह की शैली में कविता लिखते हैं। लेकिन स्वाती को सिवाती लिखकर आधुनिक हिन्दी-कवियों ने अपने को हास्यास्पद नहीं बनाया।

श्री रघुपतिसहाय को ठेठ हिन्दी में लिखी हुई कविता के नमूने हिंदी कवियों की "कीर्तियों" में नहीं मिलते। उसके उदाहरण वह उर्दू-कविता से देते हैं। उर्दू-कविता में भी चुनाव करना कठिन हो जाता है। हिंदी-लिपि में उर्दू कविता के जो संकलन निकले हैं, वे उन्हें पसंद नहीं आते। केसर की क्यारियों में "बहुत फूहड़ किस्म की उर्दू शायरी प्रायः प्रकाशित होती रही है।" और कविता कौमुदी (उर्दू) में भी अनेक त्रुटियों के अलावा "सैकड़ों सरस और सुरीली और तत्वपूर्ण उर्दू-कविताएँ" नहीं दी गईं। हिन्दी वालों के सामने एक सुरीले शेरों का संकलन पेश करने के लिए उन्होंने "उर्दू-कवियों की कल्पनाएँ" नामक लेखमाला "तरुण" में प्रकाशित की थी। इसमें मुंशी रंग बहादुरलाल गोरखपुरी से लेकर श्री रघुपति सहाय "फिराक" गोरखपुरी तक नाना प्रकार के शायरों के कलाम हैं, जिन्हें घोलकर पी जाने से हिन्दी-कवियों को हिन्दी लिखना आ जायगा। यह मानना होगा कि जितने सरस और सुरीले शेर इस संग्रह में आये हैं, उतने अभी तक किसी भी संकलन में न आये थे, संकलन चाहे किसी उर्दू वाले ने किया हो, चाहे किसी हिन्दी वाले ने। इसका कारण यह है कि उर्दू के सबसे सुरीले शायर हजरत फिराक गोरखपुरी को अभी तक किसी संकलनकर्ता ने ठीक-ठीक पहचाना न था। श्रीरघुपतिसहाय ने फिराक के शेरों को इस संकलन में जी खोलकर उद्धृत किया है; क्योंकि रघुपतिसहाय और फिराक एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। सुनिए—

"मैं अपना भी एक शेर अर्ज करता हूँ।"

"मुझे अपना शेर याद आ गया।"

"आज मेरी स्मृति थकी हुई है और इत्तफाक से दूसरों के शेर कम याद आ रहे हैं; इसलिए आज्ञा दीजिए तो दो-चार अपने ही शेर निवेदन करूँ।"

"अब मैं अपने कुछ शेर आपकी सेवा में पेश करता हूँ।"

"अब मैं अपने कुछ शेर फिर आपको सुनाता हूँ।"

"मुझे अपना एक शेर फिर याद आ गया।"

"अपना एक शेर याद आ गया।"

और, इन्हीं वाक्यों को दस-पाँच बार थोड़े से हेर-फेर के साथ और पढ़ जाइए तो मालूम हो जायगा कि इन शेर अर्ज करने वाले महाशय में अहम्मन्यता की मात्रा उस टिटिहरी से कम नहीं है, जो अपने पैरों पर आसमान साधे हुए थी। कविवर को अपने शेर क्यों बार-बार याद आ जाते हैं, इसका कारण उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए—"सौभाग्य से मेरी स्मृति घटिया चीजों को सुरक्षित नहीं रखती।" गले में अपनी गजलों का गजरा डाले हुए राह चलते आदमी को भी बुलाकर आप कहते हैं—"जरा इधर भी देखना भाई। हिन्दी की फूहड़ कविता पर लट्टू हो? भला ईमान से कहो, मेरी इस माला की चमक-दमक के आगे क्या हिन्दी के मोती फीके नहीं हैं?"

शेर आपके ही सही। अच्छे हों तो हम उन्हें आपसे भी सुनने के लिए तैयार हैं। अगर हम उनसे अच्छी हिन्दी लिखना सीख सकें तो उन्हें क्यों न सुनें? मेरा मतलब यह है कि उनसे अगर कोई अच्छी हिन्दी लिखना सीख सकता तो आपको बार-बार यह कहने की जरूरत न होती—"अब मैं अपने कुछ शेर आपको फिर सुनाता हुँ।" अपनी लेखमाला में अपने-बिराने जो भी शेर आपने उद्धृत किये हैं, उनकी "ज़बान" के बारे में आपने लिखा है—"हर पंक्ति में ऐसा मालूम होता है कि हमारी बोली छंद में ढल गई है।" थोड़ा होश आने पर आपने देखा कि यह बहुत बड़ा झूठ है, इसलिए बात बदलकर बोले कि हमारी बोली के उदाहरण इन शेरों की पहली पंक्ति में नहीं, दूसरी पंक्ति में देखिए। "पहली पंक्ति में प्रायः बीस से तीस फीसदी एक तो फ़ारसी-

शब्द होंगे, लेकिन दूसरी पंक्ति में खूबसूरत फौवारे की तरह हिंदी-शब्द वायुमण्डल में नृत्य करते हुए दिखाई देंगे।" और भी—"पहली पंक्ति में तो सन्ध्याकालिमा या धुंधलका नजर आयेंगे, दूसरी पंक्ति में तारे छटक आयंगे।" पहली पंक्ति में जब सन्ध्याकालिमा है, तब उसका जिक्र ही क्या! दूसरी पंक्ति में ही ठेठ हिन्दी-शब्दों का फौवारा-नृत्य देखिए। यह याद रखना चाहिए कि ठेठ हिन्दी का ठाठ दिखाने के लिए श्री रघुपतिसहाय ने विशेष परिश्रम से यह रामबाण संकलन तैयार किया है और उसमें भी धुँधलकावाली पहली पंक्तियों को छोड़कर ये छटके तारों वाली दूसरी पंक्तियाँ ही दी जा रही हैं—

"उम्र भर रंगे मिज़ाजे बाग़बाँ देखा किये।"

रंगे मिज़ाजे बाग़बाँ कितना छोटा समास है! मुंशीजी को कोमल पदगामिनि के समास पर आपत्ति थी, परन्तु रंगे मिज़ाजे बागबाँ के रंग में मस्त हैं।

"कि मोख़्तसर भी है कारे जहाँ दराज़ भी है।"

इसमें ठेठ शब्द 'कि' हैं, 'भी' हैं जो दो बार आया है और 'है' भी है! पता नहीं, इस ठेठ हिंदी में रची हुई पंक्ति का अर्थ लिखने की क्या जरूरत थी! अपनी लेखमाला में उद्धृत शेरों का अर्थ आपने क्यों दिया? उनमें ऐसे सरल शब्द आये थे, जिन्हें चार बरस का बच्चा भी समझता है! आपका बार-बार अर्थ लिखना ही आपके ठेठ हिन्दी के ठाट का टाट उलट देता है!

"देते हैं बादा जर्फे कदहख्वार देखकर।"

आपको "गंध-अंध" के तालसम में गँवरपन क्यों न मालूम दे, चाहे वह तालसम रवीन्द्रनाथ की कविता में ही मिलता हो! तद्भव शब्दों के प्रयोग की कितनी सुन्दर मिसाल है!

"क़यामत है सरश्कालूद होना तेरी मिज़गाँ का।"

आप ही ने लिखा है न—"हिंदी वालों को ठेठ हिंदी के इस सच्चे ठाठ से द्वेष पैदा हो गयो, इसलिए कि ऐसा चमत्कृत प्रयोग हिंदी वालों को अपनी कमतरी का एहसास कराता था।" ऊपर की पंक्ति पढ़कर

आपको शायद बड़प्पन का एहसास होता है !

"फकीहो सूफियो शायर की नाखुशन्देशी।"

"की" शब्द का कैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है! कहिए, इस "की" की मिसाल हिंदी में कहाँ ढूँढूँ ? सन्ध्या-कालिमा की बात आपने खूब कही थी। यह शेर की दूसरी पंक्ति ही है। यहाँ तारे तो छटके हैं लेकिन रात अमावस की है और महीना सावन का !

"अकीदे अक्ल उन्सर सबके सब आपस में लड़ते हैं।"

आखिर क्यों ? आप अपने दिमाग का इलाज क्यों नहीं कराते, जो इस तरह की पंक्तियों को ठेठ हिन्दी का नमूना समझकर पेश कर रहे हैं !

"कि चश्मे तंग शायद कसरते नज्ज़ारा सेवा हो।"

"कि" और "हो" के बीच में तद्भव शब्दों की फीसदी का हिसाब लगाइएगा जरा ! आप फर्माते हैं—"अनपढ़ों की भाषा को साहित्यिक और चमत्कृत बनाना साहित्यकार का सबसे उच्च ध्येय, सबसे बड़ी विजय है।" नमूना ऊपर मौजूद है।

"तुम एक बज्म में मदुर्मशनास बैठे हो।"

बज्म को अपने खूब हज्म किया है। बड़ा मधुर शब्द है। उतना ही मधुर, जितना "कमल" शब्द असङ्गीतपूर्ण है। आपकी पाचनशक्ति है भी तेज—

"न पूछ हज्म किये कैसे इश्क के सुख-दुख।
कोई पचाए गर इनको तो चीथड़े उड़ जायँ।"

जब चीथड़े उड़ाने वाला इश्क आप पचा जाते हैं, तब फारसी-शब्द तो शब्दमात्र हैं ! बज्म को हज्म करना कौनसी बड़ी बात है !

"यादगारे रौनके महफिल थी परवाने की खाक।"

"थी" और "की" ठेठ हिन्दी के शब्दों के प्रयोग पर ध्यान दीजिए। यादगारे रौनके महफिल—यानी महफिल की रौनक की यादगार—महफिल से चलिए तब यादगार तक आइए। बोली-ठोली की कैसी अच्छी ठिठोली है !

"करे क़फ़स में भराहम ख़स आशियों के लिये।"

आप फर्माते हैं—"मैं जो रह-रहकर उर्दू की तारीफ़ कर बैठता हूँ वह इसलिए नहीं कि उर्दू फारसी लिपि में छपती है या उसमें अरबी, फारसी के शब्द आते हैं, बल्कि इसलिए कि उसमें ठेठ शब्दों की भरमार सी होती है।" ठेठ शब्दों की भरमार से ऊपर की पंक्ति कितनी सङ्गीत-पूर्ण हो गई है।

"मुबारक बर्क़ को ग़ारत गरे सद आशियाँ होना।"

"को" और "होना" दो ठेठ शब्दों का प्रयोग देखिए। यह पंक्ति श्रीरघुपतिसहाय की ही कलम का कमाल है! आपने लिखा है—"मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उर्दू वालों के मुकाबिले में मैं अपने आपको हिन्दीवालों के निकट पाता हूँ।" तभी तो आपने अपनी हिन्दी के "चमत्कृत" रूप से इस पंक्ति को चमका दिया है। इस ठेठ हिन्दी के कुछ "चमत्कृत" उदाहरण और देखिए—

"जन्नत में उन्हीं से राहत थी
दोजख में उन्हीं से अजाब भी थे।"

"यहाँ से और पैदा कर खुदा वो अह्रमन कोई।"
"कि मुश्ते ख़ाक की हसरत में कोई कोहकन क्यों हो।"
"हाल हमने देखा है बेशतर खराब उनका।"
"आह वो तीर नीमकश जिसका न हो कोई हदफ़।"
"खिंच गई बादा सभी दुर्दे तहे जाम बहुत।"
"उठे महफिल से सब बेगानये शमये सहर होकर।"
"दिल को उस गोरे ग़रीबाँ में पुकारा होता।"
"ऐ शमये शबे हिज्र मेरा साथ दिये जा।"
"सैयाद की निगाह सुये आशियाँ नहीं।"
"क्या नशेमन से कोई सोख्ता सामाँ निकला।"
"गुल तो गुल खार से भी राप्ता पैदा करना।"
"मैं सरे शाख चलूँ साया तहे दाम चले।"

"कभी तो सूये गुलिस्ताँ नजर गई होती।"
"बनती नहीं है बादाओं सागर कहे बग़ैर।"
"चमन ज़ंगार है आईनए बादेबहारी का।"
"हो गये मेहरो मह तमाशाई।"
"अब करे क्यों गिलए नंगिये दामाँ कोई।"
"मगर बादेसवा की पाकदामानी नहीं जाती।"
"ख़िज़ाँ शहीदे तबस्सुम हुई बहार हुई।"
कि अब के बूये कफन दामने बहार में है।"
"गुलिस्ताँ लहलहाये बारहा नज़रे ख़िज़ाँ होकर।"
"कदम-कदम पै छलकता है रंगे फ़ितनागरी।"
"हम महे नालये जरसे कारवाँ रहे।"
"मेहरो माहो मुश्तरी को हमअना समझा था मैं।"
"लिपटे रहे जो बगूलों से दश्ते गुरबत के।"
"बहुत है इस तरह भी खैर यादे रफ़्तगाँ होना।"
"शकस्त रंगे रुख़े रोजगार हैं हम लोग।"

छटके तारों के इतने उदाहरण काफी होंगे। पाठक ऊपर की पंक्तियाँ पढ़ें और फिर श्रीरघुपतिसहाय की इन बातों को भी—"अगर हिन्दी के प्रेमी उर्दू सीखने के लिए उर्दू न सीखें तो कम-से-कम अपनी हिन्दी सीखने के लिए उर्दू सीखें।" और 'उर्दू कवियों ने फारसी का थोड़ा सहारा लेते हुए ठेठ हिन्दी का ठाठ ही दिखलाया है।" और—"उर्दू कवियों ने अपने कलेजे का खून खा खाकर हिन्दी को चिन्दी की है। गँवारों की भाषा को रचाकर और सजाकर उत्कृष्ट साहित्य की पदवी दी है और उसे राजमहल की भाषा बनाया है।" और अन्त में —"दूसरी पंक्ति में खूबसूरत फौवारे की तरह हिन्दी-शब्द वायुमण्डल में नृत्य करते हुए दिखाई देंगे।" इस तरह की जीट हाँकने से फायदा क्या?

मेरा यह मतलब नहीं कि सरल उर्दू में शेर लिखे नहीं जाते या श्रीरघुपतिसहाय ने उन्हें उद्धृत ही नहीं किया। मेरा मतलब सिर्फ

इतना है कि जो व्यक्ति समझता है कि हिन्दी-कवि निज, उर, निशा आदि शब्दों का प्रयोग हिन्दी-आन्दोलन के कारण करने लगे हैं, वह फारसी के कठिन और अप्रचलित शब्दों को भी बड़ी आसानी से आमफ़हम मान लेता है और वैसी पंक्तियों को—जैसी ऊपर उद्धृत की गई हैं—तद्भव शब्दों से रची हुई हिन्दी के उदाहरण-स्वरूप पेश करता है। हिन्दी में तत्सम शब्दों के प्रयोग के बारे में इतना याद रखना चाहिए कि हिन्दी का फारसी से वही सम्बन्ध नहीं है, जो संस्कृत से है। जो समझता है कि कमल और स्वाति को "कँवल" और "सिवाती" लिखना चाहिए और "सरश्क़ालूद' और "ख़स आशियाँ" से हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल होता है, वह अक्ल का अंधा है और इन्द्र के समान हजार आँखें होने पर भी उसे सूझेगा सब हरा-हरा ही।

अब उन शब्दों को लीजिए, जिनका प्रयोग हिन्दी पाठकों को गुमराह कर रहा है। यह याद दिलाने की ज़रूरत नहीं कि सभी कविता एक ही शैली में नहीं लिखी जा सकती। यदि हिन्दी-कविता के किसी भाग में तत्सम शब्दों का बाहुल्य है तो इसका यह मतलब नहीं कि सरल हिन्दी में कविता लिखी ही नहीं गई। अन्य भाषाओं का भी यही हाल है। यह कहना कि शैली या ऑडेन की भाषा में ऐसे शब्दों की प्रधानता है, जिन्हें चार-पाँच बरस के अँग्रेज बच्चे भी समझ लेते हैं, अपने आपको धोखा देना है। देखना यह है कि आधुनिक हिन्दी के उन कवियों ने, जिनकी भाषा संस्कृतबहुल है, अपनी शैली का निर्वाह कैसे किया है। तत्सम शब्दों का निरर्थक या भद्दा प्रयोग तो नहीं किया। श्रीरघुपतिसहाय जिन शब्दों का अर्थ नहीं समझे उनकी बात दूसरी है; जिन शब्दों के प्रयोग को उन्होंने ग़लत बताया है, उन्हें सही साबित करने के लिए मैं तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रमाण दूंगा। अगर इस पर भी किसी को तसल्ली न हो, तो वह कुछ दिन किसी विद्वान् के पास भारतीय साहित्य का अध्ययन करे। यों ही अपने आपको पाँच सवारों में न गिनने लगे। श्रीरघुपतिसहाय ने जिन शब्दों के प्रयोग पर

आपत्ति की है, वे यहाँ दिये जाते हैं—

"परिहृतवसना"। इस शब्द का आप अर्थ नहीं समझे, कहते हैं—"क्या जिसके वस्त्र-हरण कर लिये गये हों ? या जिसने किसी और का वस्त्र छीन लिया हो ?" यह संस्कृत श्लोकों को बिना समझे हुए सिर धुनने का नतीजा है जो "परिहृतवसना" में वस्त्र-हरण दिखाई दे रहा है। आपको यह भी आपत्ति है—"किसी गद्य में परिहृतवसना का प्रयोग कीजिए तो इसका बेतुकापन मालूम होगा।" शैली के बारे में सबसे बड़ा मुग़ालता आपको यही है। स्वयं लिखते हैं—

"अश्क से दीदये अंजुम में झलक जाते हैं।"

अब कोई कहे कि आपके दीदों में अश्क से झलक जाते हैं तो मानो यह एक तुक की बात होगी !

"म्लानमना"। कहते हैं—"म्लानमना का कुछ सम्बन्ध महामना से तो नहीं है।" है क्यों नहीं, जैसे "लोचन" शब्द का पं० रामलोचन पांडे से था। देखिये रवीन्द्रनाथ की पंक्ति पढ़कर आपको महामना की याद आती है या नहीं।

"मुक्तकेशे म्लानवेशे सजलनयने" (मेघदूत)

आपने हिन्दी कवियों को नसीहत दी है—"पंतजी और हिन्दी के अन्य लेखक भी इसका ध्यान रक्खें कि संस्कृत के वह शब्द जिनमें कई व्यंजनों को हलंत कर या काटकर मिलाया जाता है जैसे म्लान इत्यादि यह शब्द-प्रणाली हिन्दी में अरुचि कर समझा जाता है।" जरूर "समझा जाता है" क्योंकि "आज की भाषा सूर और तुलसी की भाषा न सही लेकिन उनकी रचनाओं में जो मिश्रित व्यंजनों का अभाव या कमी है, वह इसी कारण है, न कि इस कारण कि वह इन शब्दों को नहीं जानते थे।" सूर और तुलसी का आपने जैसा गम्भीर अध्ययन किया है, उसका प्रमाण तो मैं पिछले लेख में दे चुका हूँ। इस म्लान शब्द की ध्वनि शायद बंगाल में ही कुछ विशेष मधुर हो जाती है जो श्री रवीन्द्र-नाथ ठाकुर को वह इतना प्रिय है—

"म्लान क्षुधा तृषातुर अन्ध दिशाहारा।" (निष्फल कामना)

"धरार कुयाशा म्लान करे जथा आकाश ऊषार काया।"

(सूरदासेर प्रार्थना)

रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं से म्लान शब्द के इतने उदाहरण दिये जा सकते हैं जितने पंतजी की कविता में कुल शब्द होंगे। अपने को अक़्ल मन्द साबित करना हो तो इशारे से ही मान जाइए।

"धूलि धूसरित" इसके लिए आपने लिखा है—हिन्दी में धकार का इस रूप में दुहराना फूहड़ है। जरूर फूहड़ है जैसे तुलसीदास की इस पंक्ति में—

भरत कमल कर जोरि, धीरधुरन्धर धीर धरि। धकार से हार्ट फेल तो नहीं हो गया। फिर सँभलिए—

"जो न होत जग जनम भरत को
सकल धरमधुरि धरनि धरत को।

आशा है इस पंक्ति को पढ़ने से आपके स्वास्थ्य-पर कोई बुरा प्रभाव न पड़ेगा।

"शुचि"। कहते हैं-"सोचिए तो अगर कोई पंतजी से पूछे कि आपका शुचि जन्म स्थान कहाँ है तो इस हिंदी को पंतजी कैसी बतायेंगे?" पंतजी से ऐसा प्रश्न कोई मूर्ख ही करेगा। तुलसीदास ने लिखा है—"सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ।" इसे पढ़कर आप हो शायद अपने नौकर से कहेंगे—जरा शुचि जल दे जाना। शुचि फल, शुचि सुअन, शुचि सेवक आदि तुलसीदास के अन्य प्रयोग हैं। शैली-ज्ञान पैदा कीजिए। रवीन्द्र-नाथ भी कहते हैं—

''एसो ब्राह्मण, शुचि कीर मन
धरो हात सबाकार।" (भारत-तीर्थ)।

इसका यह मतलब नहीं है कि आप अपना मन "शुचि" करके मेरा लेख पढ़ें!

"कलगान।"—"कलगान कोई हिंदी नहीं। कलकल गान हो सकता था।" कल से कलकल का ध्यान आपको खूब आया! "सुरसुन्दरी करहिं कल गाना"—यहाँ आपकी समझ में कलकल गाना होना चाहिए था!

तुलसीदास का नाम तो आप बहुत लेते हैं लेकिन मालूम होता है, मानस के पास तक न पहुँचकर दूर से ही मँड़राकर लौट आये हैं। गोस्वामीजी ने मानस से दूर रहने वाले कुछ जीव-जन्तुओं के बारे में लिखा भी था—

"अतिखल जे बिषई बग कागा।
एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥"

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर लिखें "गेये जाइ कलगान" (वसुन्धरा) तो उसमें भी संशोधन करके कलकल गान कर दीजिए।

"विकच पुष्प"। "विकच पुष्प भी कितनी सुन्दर शैली है।" उतनी सुन्दर जितनी रवीन्द्रनाथ की शैली इन पंक्तियों में—

"विकच कुसुम सम फुल्ल मुखखानि।"
(मानससुन्दरी)
"विकसित वनस्थल विकच फुले।"
(हृदय जमुना)

विकच फूल, विकचकुसुम हो सकता है, परन्तु विकच पुष्प नहीं! आप रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली की आलोचना लिख डालें तो कैसा हो?

"पलक पाँवड़े बिछा खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार।"

इन पंक्तियों पर टिप्पणी है—"पाँवड़े और खड़े में 'ड़' कार जिस तरह डकार ले रहा है वह मृदुल संगीत की लासानी मिसाल है।" आइए मृदुल संगीत के उदाहरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी लीजिए—

"निठुर पीड़ने निंगाड़ि वक्ष"
(जीवनदेवता)

और—

"उठे शून्य पाने पड़े आछाड़िया"
(निर्झरेर स्वप्नभंग)

'ड़' भाषा में है तो वह निकाल न दिया जायगा। लेकिन अगर

पंत और रवीन्द्रनाथ की पंक्तियों में ड़कार डकार ले रहा है, तो आपने अपनी लेखमाला में इसी तरह की ड़कारवाली पंक्ति क्यों उद्धृत की थी ? क्या इसलिए कि उर्दू में ड़कार की डकार आपको मधुर मालूम होती है ?

"कुंजे क़फ़स में बाग़ से उड़-उड़के आये गुल।"

पंतजी की पंक्ति में दो ड़कारों के बीच में तीन अक्षर हैं, यहाँ केवल एक ! परन्तु उर्दू की पंक्ति में ड़कार सुन्दर लगते हैं और पंतजी की पंक्ति में कर्णकटु ! कहते हैं—"ऐसी भद्दी आवाजें देहात के बिरहों और अन्य देहाती गानों में भी नहीं मिलतीं।"

"तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर"।—"हाइफन द्वारा इस तरह का बहुवचन संस्कृत में होता है, ऐसा होना हिन्दी में अच्छा नहीं लगता।" हाइफन द्वारा संस्कृत में बहुवचन बनाने की बात आपने बेजोड़ कही है ! यह तीन शब्दों का बहुवचन है, रवीन्द्रनाथ ऐसे ही चार शब्दों का बहुवचन विना हाइफन लगाये ही बना लेते हैं—

"नव रौद्रालोके
तरुलतातृणगुल्म की गूढ़ पुलके" (वसुन्धरा)।

तरुतृण के उच्चारण में जबान अटकती है। और रवीन्द्रनाथ की पंक्ति में "लतातृण" कहने में ?

"विपुल कल्पना कहाँ की हिन्दी है ?" वहीं की जहाँ की "विपुल विश्वास" बँगला है—

"विश्वास विपुल
जागे मने।" (मानससुन्दरी)।

"विजन निशा।" "विजन निशा का कोई अर्थ नहीं। विजन माने एकांत के हैं। एकांत स्थान होता है। यह शब्द देश के लिए आता है, काल के लिए नहीं आता।" कोई "निर्ज्जन निशा" लिखे तो आप उसे क्षमा करेंगे या नहीं ?

"वृष्टि पड़े अविश्राम, घनाये आँधार
आसिछे निर्ज्जन निशा।"

(मेघदूत)

पंतजी के गुरु बनकर आप लिखते हैं—"पंतजी से ग़लती यह हुई है कि सूनी या सुनसान रात का तरजुमा विजन निशा से कर दिया है।" और यदि रवीन्द्रनाथ ने निर्ज्जन नहीं, विजन शब्द का ही प्रयोग रात के लिए किया हो तो ? आप कहेंगे—रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ग़लती यह हुई है कि...!

सुनिए—

"विजन वसंतराते मिलन-शयने"

(वैष्णव-कविता)

अब कहिए विजन शब्द देश के लिए ही आ सकता है; काल के, लिए नहीं। आपकी आत्मप्रवंचना देखने लायक है। लिखते हैं—"अगर कोई विद्यार्थी अपने निबन्ध में या परीक्षा-पत्र के उत्तर में विजन निशा लिखे तो उस गरीब को तो मूर्ख और गँवार कह दिया जायगा, लेकिन यहाँ तो कोई देखने वाला या टोकने वाला है ही नहीं।" पढ़िए रवीन्द्रनाथ की पंक्ति को और कहिए कि विजन निशा लिखने वाला विद्यार्थी गँवार कहा जायगा ! ऐसी हिन्दी लिखने वालों को ही श्री रघुपतिसहाय ने "धोतीप्रसाद" का नाम दिया है। कहते हैं—"क्या मेरी आपकी यह जिम्मेदारी नहीं कि हिंदी वालों को धोतीप्रसाद बनने से बचायें।" पता नहीं सुथनासहाय बनकर ही कोई हिंदी का कौन-सा उपकार कर लेगा !

"शिथिल वसन"। "शिथिल वसन का क्या मतलब है ? शिथिल मन, शिथिल शरीर, शिथिल हृदय इत्यादि तो सुना था, लेकिन शिथिल वसन शायद आदिकाल से लेकर अब तक के संस्कृत और हिन्दी कवियों और साहित्यिकों की शैली पर तरक़्क़ी है।" यह आदिकालवाला काम्प्लेक्स दूर कीजिए। हर जगह आदिकाल की दुहाई देने से भेद बहुत जल्दी खुल जायगा। "कहु जग मोहिं समान को जोधा" कहने के पहले जरा अपने कसबल का अन्दाज भी कर लीजिए। वृथा गाल बजाने से क्या लाभ ? जिसने संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया होगा, वह भी इस तरह की बात कहने के पहले दो-चार

बार सोचेगा। आप अपनी उसी बात पर अड़े रहिए कि बिना संस्कृत समझे हुए ही आप संस्कृत श्लोकों पर सिर धुनते हैं। समग्र संस्कृत-साहित्य पर राय देकर आप अपनी अनुपम विद्वत्ता का सबूत क्यों देने लगते हैं—"संस्कृत-साहित्य अपने तमाम चमत्कार के साथ-साथ वह दोष रखता है, खासकर कहीं-कहीं कालिदास की कविता, जहाँ उपमाएँ और शब्दों की बौछार वस्तु को या विचार को दफ़्न कर देते हैं।" बड़े अधिकार से आप संस्कृत-साहित्य पर राय दे रहे हैं। मालूम होता है, सारा संस्कृत-साहित्य हस्तामलकवत् है, उसमें भी कालिदास की कविता विशेष रूप से। कालिदास का जरूर गम्भीर अध्ययन किया है। तभी तो "घटस्तन" का अर्थ किया था, घड़े के बराबर स्तन। आपने अपनी कविता में एक पंक्ति लिखी थी—

"अपने दग्ध हृदय से कवि ने क्या-क्या गेंद उछाले हैं।"

इसके समर्थन में आपने कुमारसम्भव से यह आधी पंक्ति उद्धृत की थी—"घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।" और इसका अर्थ किया था, जगन्माता पार्वती का स्तन बढ़कर घड़े के बराबर हो गया है! (भाव यह था कि पार्वती घड़ों से वृक्षों को सींचती थीं मानों बच्चों को अपने स्तनों से दूध पिलाती हों!) लेकिन कितना जबर्दस्त यह आदिकालवाला काम्प्लेक्स है। बिना संस्कृत की दुहाई दिये आप दो वाक्य भी नहीं लिख सकते। कहते हैं—"आज मैं कविता की भाषा के विकास पर आपके सामने कुछ सिद्धान्त पेश करूँगा।" और ये सिद्धान्त—"आदिकाल से लेकर अब तक की सफल और उत्कृष्ट काव्य-रचनाओं को देखकर और उनकी शैली के सौंदर्य तथा वाक्य-निर्माण पर ग़ौर करके बनाये गये हैं।"

इस आदिकाल की दुहाई के साथ आपके संस्कृत-ज्ञान के स्टैंडर्ड हैं लार्ड लिनलिथगो! पाठकों को विश्वास न हो तो यह रोचक कहानी श्री रघुपतिसहाय के शब्दों में ही सुन लें। आपने लिखा है—"एक बार मेरे सम्मानित मित्र पंडित अमरनाथ झा बड़े लाट लार्ड लिनलिथगो से मिले। लाट साहब ने उनसे यह कहकर कि मैं संस्कृत नहीं जानता कहा

कि संस्कृत का कोई श्लोक सुनाइए। अभी पंडित अमरनाथ झा ने दो ही एक श्लोक सुनाये थे कि लाट साहब बोल उठे—Very dignified, very dignified. अब आया आपकी समझ में मेरे बिला संस्कृत जाने संस्कृत पर सिर धुनना?" जी हाँ, और यह भी समझ में आ गया कि आपको समग्र संस्कृत-साहित्य में वह दोष क्यों दिखाई देता है जिससे भाव शब्दों के नीचे दफ़्न किये हुए मालूम पड़ते हैं। लेकिन लाट साहब की नक़ल करने से आप क्यों बाज़ आते? लाट साहब ने श्लोकों को बिना समझे हुए very dignified ही कहा था, आपने तो भावों और शब्दों की छानबीन भी कर डाली है और दो-चार श्लोकों पर ही नहीं समग्र संस्कृत-साहित्य पर राय दे डाली है। मैं यह नहीं कहता कि आपकी राय ग़लत है। मैं कहता हूँ कि राय गलत हो या सही, संस्कृत-साहित्य पर राय देने लायक अभी आप हैं नहीं।

श्रीरघुपतिसहाय के संस्कृत-अध्ययन के बारे में पाठक एक मनोरंजक कहानी और सुन लें। कहते हैं—"मेरी जिन्दगी में एक ऐसा समय भी गुज़रा है कि यह सोचकर कि जब मैं संस्कृत नहीं जानता तो जीना व्यर्थ है, मैं आत्महत्या क्यों न कर लूँ। फिर मेरे दिल से आवाज आई कि संस्कृत-भाषा बाद को है। पहले तो वह जीवन है और अगर वह जीवन है तो मैंने हजारों पूर्वजों से जीवन के वह तमाम संस्कार पाये हैं जो संस्कृत-साहित्य में और उस साहित्य की संस्कृति में विद्यमान हैं। संस्कृत तो मैंने अपनी मा के दूध के साथ पी है।" आपकी टिप्पणियाँ देखकर यह नहीं मालूम होता कि वह दुग्धपान अभी तक आपकी मदद कर रहा है।

बात थी "शिथिल वसन" की, जिसके लिए आपने संस्कृत से लेकर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के भारतीय कवियों को याद कर डाला है। विश्व-कवि की रचनाओं का आपने विशेष अध्ययन किया है। इसलिए लिखा है—"सोचिए कि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर शिथिल वसन पढ़कर कितना खुश होते।" उतना ही जितना वह "शिथिल साजे" लिखकर खुश हुए हैं—

कोनो मते आछे परान धरिया
कामिनी शिथिल साजे ।"

"साजे" में देखिए वसन इत्यादि आते हैं या मन, शरीर इत्यादि और यह भी बताइए कि "केश" मन और शरीर की श्रेणी में हैं या वसन और "साजे" की श्रेणी में ?—

"नूतन मालिका परेछि शिथिल केशे ।"
(भ्रष्टलग्न)

केश शिथिल हो सकते हैं, परन्तु वसन नहीं ? अच्छा, अब नीचे की पंक्तियाँ ध्यान देकर पढ़िए—

"बकुलतले बाँधिछे चूल एकेला बसि कामिनी मलयानिल-शिथिल-दूकूले ।"
(मदनभस्मेर पूर्वे)

अब देखिए, दूकूल के लिए कविवर ने "खुश" होकर शिथिल शब्द लिखा है या नहीं। आपने मसीहा बनने की बहुत जल्दी तैयारी कर डाली। थोड़ी संस्कृत और बँगला सीख लेते तो अपने आपको हास्यास्पद बनाने की यह नौबत क्यों आती ? अज्ञान की गठरी को विद्वत्ता न समझिए। उसे जाकर गंगाजी में डुबो दीजिए। क्यों आप अपने दिल को दर्द से भरकर कहते हैं—"ऐसी ही कविताएँ पढ़ा-पढ़ाकर हम अपने कई करोड़ बच्चों को झूठ की शिक्षा देते हैं, उनकी कल्पनाओं को पागलों की कल्पना बनाते हैं, उनकी विचारशक्ति को चौपट करते हैं और उनकी बोली को पागलों की बड़बड़ाहट बनाते हैं।" आप चाहे न समझें, लेकिन साधारण बुद्धि के पाठक भी समझ जायँगे कि पागलों की बड़बड़ाहट किसकी है। यदि हिन्दी-कविता में वे दोष जो आपने दिखाये हैं और जिनकी मिसाल मैंने रवीन्द्रनाथ और तुलसी दास से दी है, हमारी भाषा को पागलों की बड़बड़ाहट बनाते हैं तो मानना होगा कि कवि पागल ही होते हैं और उनकी कविताएँ पढ़ना-पढ़ाना बन्द कर देना चाहिए। यदि विजन निशा या शिथिल वसन लिखना पागलपन नहीं है तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि आपसे बड़ा पागल दुनिया में नहीं है, जो कविता के "क ख ग घ' से भी

अपरिचित है, लेकिन बात कालिदास और रवीन्द्रनाथ से कम नहीं करता। आपने रवीन्द्रनाथ का नाम लेने के पहले उनकी कितनी रचनाएँ पढ़ी थीं? आपने यह न सोचा था कि जिन प्रयोगों पर आपकी समझ में रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास मुँह पीट लेंगे, वे प्रयोग उनकी रचनाओं में भी मिल सकते हैं? जब आपको अभी साबित हिन्दी पढ़ने की तमीज़ नहीं है, तब आप किस बिरते पर संस्कृत से लेकर बँगला और हिन्दी कवियों पर राय देने के लिए तैयार हो गये हैं? आपकी शेखी आप ही को मुँह चिढ़ायेगी—"अब मैं इस बात की जरूरत समझता हूँ कि इस वार्तालाप के द्वारा आपको ठोस मिसालें देकर यह बताऊँ कि हिन्दी-साहित्य, खासकर हिन्दी-कविता में आजकल अधिकतर कैसी हानिकारक, कैसी गुमराह करनेवाली, कैसी फूहड़ और गँवार बना देनेवाली बातों की भरमार रहती है।" मैंने जो रवीन्द्रनाथ और तुलसीदास से उद्धरण दिये हैं, उन्हें पढ़िए और देखिए फूहड़ और गुमराह कौन हैं। आपका वह वार्तालाप प्रलाप था और अब आपके विलाप की बारी है!

हिंदी के नये कवियों में जिन लोगों ने संस्कृत दर्शन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है, उनमें प्रसादजी का नाम सबसे पहले आता है। उनके अध्ययन पर उंगली उठाने के पहले कोई विद्वान् भी दो-चार बार आगा पीछा सोचेगा। परन्तु अंगरेजी कहावत—"Fools rush in where angels to tread"—श्री रघुपतिसहाय ने "कामायनी" के दार्शनिक विचारों पर ही सम्मति देने की कृपा की है। वह सम्मति इस प्रकार है—"जब भोग-विलास जिसके आधुनिक अल्प रूप को समझने का सबूत कवि ने नहीं दिया और न वैदेह जनक के भोग विलास की प्राचीन कल्पना या कृष्णरासलीला के रहस्यात्मक तत्त्व को समझने का भी कवि ने सबूत नही दिया, जब जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याओं को ovmersilplify कर दिया..." यानी भारतीय दर्शन को प्रसादजी ने उतना ही समझा जितना श्री रघुपतिसहाय ने कामायनी को! जरा "वैदेह" पर तो ग़ौर फरमाइए, मुंशीजी! इस एक शब्द से

आपके गम्भीर अध्ययन-की कलई खुल जाती है। आपकी तरह प्रसाद जी ने भोगविलास के आधुनिक उच्च रूप को नहीं समझा; वैदेह के भोग-विलास और कृष्ण की रासलीला को भी नहीं समझा! कहीं कामायनी लिखने से पहले उन्होंने आप से इस्लाह ले ली होती तो उनकी "कीर्ति" कैसी "चमत्कृत" हो जाती।

एक लेख में कामायनी के कर्म सर्ग से आपने २८ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और उनका जो अर्थ किया है, वह बस आप ही कर सकते थे। इन्हीं में कवि ने सुख को, भोगविलास को न समझने की ग़लती की है पहले। ही बन्द में स्पष्ट लिखा है—

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे! वह भी कुछ है।
दो दिन के इस जीवन में तो
वही चरम सब कुछ है।"

इन पंक्तियों को पढ़कर अंधा भी कह देगा कि सुख तुच्छ नहीं है। जीवन दो दिन का है, लेकिन उसमें यह सुख ही सब कुछ है। आखिर इससे अधिक स्पष्ट भाषा और कौन-सी हो सकती थी—"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी।" अब आप इसका यही अर्थ करें कि सुख तुच्छ है तो कोई आपको फाँसी न दे देगा लेकिन अर्थ ग़लत जरूर है। मनु सुख के गीत गा रहे हैं लेकिन आपकी समझ में वह सुख की निन्दा कर रहे हैं!

मनु ने अपने विचार पर आगे भी प्रकाश डाला है। बात को और भी स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—

"विश्व-माधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो,
वह अपना सुख-स्वर्ग नहीं है,
यह तुम क्या कहती हो?"

अपना सुख-स्वर्ग इसी जीवन में है। विश्व की माधुरी उसके सामने दर्पण बनी रहती है। मुंशीजी टीका करते हैं—"अभिलाषाओं की सतत सफलता विश्वमाधुरी के आईने में झलक रही है लेकिन यह झलक

हमारा सुखस्वर्ग नहीं है। कवि हमें भोगवाद से कर्मवाद की ओर ले जाना चाहता है।" यह भी याद न रहा कि मनु सोमपान करके भोग की ही इच्छा से श्रद्धा के पास आये हैं। कवि ने ऊपर लिखा था—

"जाग उठी थी तरल वासना,
मिली रही मादकता।
मनु को कौन वहाँ आने से
भला रोक अब सकता।"

लेकिन मुंशीजी अपने अर्थ से सन्तुष्ट होकर कहते हैं—"एक हद तक ये विचार सही हैं लेकिन ये कहने को जी चाहता है कि कर्म का महत्त्व समझाने के लिए वैराग्य का उपदेश देना ज़रा पुरानी बात है।" यद्यपि वैराग्य का कहीं नाम भी नहीं लिया गया!

आगे चलकर मनु कहते हैं—

"जिसे खोजता फिरता मैं
इस हिमगिरि के अंचल में।
वही अभाव स्वर्ग बन हँसता
इस जीवन चंचल में।"

जिसे वह हिमाचल में ढूँढ़कर हार गये, वह उन्हें चंचल जीवन में ही मिल गया। पहले एक अभाव था; अब वह जीवन के सुख में परिवर्तित हो गया है। लेकिन श्रीरघुपतिसहाय सम्मति देते हैं—"विचार कुछ सूक्ष्म जरूर है यानी जीवन के सुखों का तत्व यदि देखा जाय तो वह अभाव ही के एक रूप नज़र आयेंगे।" बड़ी दूर की कौड़ी लाये। और सुनिए—"अँग्रेजी में इसे stultification कहते हैं।" stvltification के बाद कुछ अधिक गम्भीर होकर आप लिखते हैं—"मेरा तो कुछ ऐसा विचार है कि पुराने ख्याल के लोग भोग-विलास को इसलिए बुरा कह देते थे कि उस जीवन का ताल-मेल पुराने लोग प्रायः मिला नहीं पाये थे।" सम्भव है, पुराने लोगों को इस तरह के ताल-मेल में उतनी सफलता न मिली हो, जितनी आपको मिली है, लेकिन उन्होंने इस तरह अर्थ का अनर्थ तो नहीं किया। और इस तरह

ताल-मेल के बाद आप हवाला किन विद्वानों का देते हैं—"इस सम्बन्ध में इमर्सन का तत्त्वपूर्ण निबन्ध compensation के शीर्षक से देखने योग्य है। अरस्तू के विचार भी मनन करने योग्य हैं और एडवर्ड कारपेंटर के लेख भी।" इस तरह नाम गिनाकर कच्ची अक़्ल के विद्यार्थी अपने निबन्धों को "तत्त्वपूर्ण" बनाया करते हैं। जिन होनहार विद्यार्थियों को आप हिन्दी के आचार्यों के सिर पर बिठा रहे थे, वे भी बुद्धि के ऐसे प्रबल अभाव का परिचय न देंगे। आप कामायनी को बिना समझे हुए "ता ता धिन्ना ता ता धिन्ना"* करके उसकी नकल तो उतारते हैं लेकिन फिर शिकायत भी करते हैं कि आप जैसे "हिन्दी के पुजारियों को कोई उर्दू वाला कहता है, कोई मियाँजी कहता है, कोई भाँड़ कहता है, कोई एक्कावाला कहता है, कोई चिकनी-चुपड़ी बातोंवाला कहता है, कोई कोरमापोलाववाला कहता है, कोई शोहदा और लफंगा कहता है।" आप शायद चाहते थे कि लोग आपकी आरती उतारते, बलाएँ लेते, सदके जाते !

कामायनी की आलोचना के एक-दो उदाहरण और देखिए। एक पंक्ति है—"झरने झरते आलिंगित नग"; इस पर लिखा है—"झरने झरते की जगह झरनों को झरते होना चाहिए क्योंकि झरना transitive verb है।" इस व्याकरण-ज्ञान के आगे मुन्शीजी का और सभी तरह का अज्ञान झख मारता है। "झरने झरते" ग़लत है। क्यों? इसलिए कि झरना सकर्मक क्रिया है। प्रसादजी ने उसे कर्महीन कर दिया था। श्रीरघुपतिसहाय उसका विशुद्ध कर्म-युक्त प्रयोग करते हैं—"झरनों से झरते !" ढूँढ़िए चिराग लेकर उस transitive verb के object को ! एक बात और। जब "झरने झरते" की जगह "झरनों से झरते" हो गया तब झरते क्रिया के कर्त्ता को भी ढूँढ़िए। यह कर्त्ता-कर्मवाली बातें चौथे दर्जे के लड़कों को सिखाई जाती हैं। यहाँ बारह बरस दिल्ली में रहने के बाद भी रहे वही के वही !

---

* कामायनी की पैरोडी करते हुए श्रीरघुपतिसहाय ने सचमुच ही यह पंक्ति लिखी है; मैंने अपनी तरफ से उसे नहीं गढ़ा।

"झरने झरते" के बाद "आलिंगित नग" का टुकड़ा है जिस पर आपने लिखा है,"आलिंगित नग बहुत खूबसूरत उपमा है लेकिन लिपटे हुए चमकते साँप ज्यादा निखरी हुई भाषा होगी।" पाठकों को आश्चर्य होगा कि ये लिपटे हुए साँप कहाँ से निकल आये। ये लिपटे हुए नाग आलिंगित नग से निकले हैं। कालिदास ने लिखा था—"हिमालयो नाम नगाधिराजः"; उसका अर्थ है, हिमालय नागों का राजा है क्योंकि वहाँ बहुत-से साँप रहते हैं। "आलिंगित नग" से नागनाथ खूब निकले! लेकिन किस ठहरी हुई नज़र से, किस ठंडे दिल से आप हिन्दी-कविता पर विचार करते हैं। कहते हैं-"आइए, आज नई हिन्दी की कुछ पंक्तियों को ठंडे दिल से और ठहरी हुई नजर से देखें, अपने कान की गवाही लें, अपने दिलों की धड़कन की गवाही लें..." इस वाक्य में यह और जोड़ दीजिए कि अपने दिमाग़ से भी काम लें। उस बहुत ज़रूरी चीज़ को आप अक्सर भूल जाते हैं!

एक दूसरे लेख में आपने कामायनी के आरम्भ की २८ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। यहाँ आप अपने कानों से गवाही लेते वक्त आँखों से काम लेना भूल गये हैं। ११-१२ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार।"

मुन्शीजी यह नहीं समझ पाये, यह किसका वर्णन हो रहा है। कहते हैं—"और यह तो बताइए कि आपने यह क्यों नहीं बताया कि किसके अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ वह अच्छे गुण रखती है जिन्हें इतने भयानक शब्दों में बयान किया गया है? उस पुरुष की जो कई पंक्तियों ऊपर लटक रहा है?' पहले तो यह समझिए कि "अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ" कहने के बाद कवि उन्हीं के गुणों का वर्णन नहीं करता। "ऊर्जस्वित वीर्य" और शिराओं में रक्त-संचार की बात वह कर रहा है। आप रक्त और वीर्य का अर्थ न जानते हों तो किसी राह

चलते आदमी से पूछ लीजिए। यह कहते हुए ज़रा शर्म खाइए कि वीर्य और स्वस्थ रक्त के वर्णन में कवि ने मांसपेशियों के गुण बताये हैं। वैसे तो वे सब एक शरीर में हैं ही!

अच्छा अब उस आदमी को ढूँढिए—ठंडे दिल से, ठहरी नज़र से—जिसके ऊर्जस्वित वीर्य और स्वस्थ रक्त से आपकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया है। आप पूछते हैं—"उस पुरुष की जो कई पंक्तियों ऊपर लटक रहा है?" आपका मतलब दूसरी पंक्ति से है जिसमें उस पुरुष का ज़िक्र है—

"एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।"

श्रीरघुपतिसहाय के अनुसार प्रसादजी ने बिना किसी सूचना के ११-१२ पंक्तियों में उसकी मांसपेशियों के गुणों का वर्णन शुरू कर दिया है। एक बार आँखें मलिये और देखिए ७ वीं पंक्ति को—

"तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मसान।"

तीन पंक्तियों के बाद आप इस तपस्वी को भूल गये? लेकिन देखिए, ९ वीं पंक्ति में यह फिर उसी का ज़िक्र है—

"उसी तपस्वी से लम्बे थे,
देवदारु दो चार खड़े।"

वह तपस्वी देवदारु जैसा बड़ा होता तो भी शायद आपको न दिपता। दूसरी, सातवीं और नवीं पंक्तियों में तरुण तपस्वी का जिक्र करने के बाद ग्यारहवीं पंक्ति में ही प्रसादजी ने उसकी मांसपेशियों आदि का वर्णन किया है। लेकिन आँखों पर पट्टी बाँधे हुए आप तो फ़तवा देने के लिए उतावले हैं। सुनिए—"न क्रिया ठीक, न कर्त्ता ठीक। ऐसी दार्शनिक कल्पना से हिन्दी को भगवान् बचावे। एम० ए०, बी० ए० के छात्रों को ऐसी ही भाषा सिखाकर हिन्दू-संस्कृति का उपकार और हिन्दी-भाषा का प्रचार कीजिए।" भगवान् आपको दार्शनिक विचारों से जरूर

बचावे, क्योंकि जब सिर्फ एक पंक्ति ऊपर आपको तपस्वी नहीं दिखाई दिया, तब दार्शनिक विचारों को ग्रहण करने में आपकी कोमल कल्पना को जरूर काठ मार जायगा।

शेखचिल्ली की शेखी और शोखी का एक उदाहरण और लीजिए। निरालाजी ने लिखा—"मौन प्रिय, मेरा मधुमय गान।" बस, मुन्शी जी "मधुमय" शब्द देखकर उबल पड़े। बोले—"इन कवियों को शहद की नहर में इतनी देर तक डबकोइया दे कि जन्म भर 'मधु' या 'मधुमय' शब्द लिखना भूल जायँ, ऐसी नहर में इन कवियों से endurance swimming कराना चाहिए। फिर देखिए, कै घंटे तक यह लोग छपकोइया मारते हैं।" विचार अच्छा है। मैं आपको निरालाजी के साथ—जो एक अच्छे तैराक हैं—दो-चार अन्य कवियों के नाम भी देता हूँ जिससे compatition दिलचस्प हो। पहले अपने देश से शुरू कीजिए, विश्व-कवि श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर से जिन्हें "मधुमाखा कंठेर काकली—" शहद में डूबी हुई आवाज—पसन्द है और इनके साथ लीजिए टेनिसन को जिसे "honey'd rain" "honey'd answer"—मधुमय वर्षा-जल, मधुमय उत्तर—आदि पसन्द हैं। वर्डस्वर्थ को जिसे "honey'd shade" मधुमय छाया और कीट्स को जिसे "honey'd voice" "honey'd tongue"—मधुमय स्वर, "शहद लगी जीभ" (या मधुमय गान) आदि पसन्द हैं। ये सब लोग मधुर भाषा नहीं लिख पाते थे, इसलिए मधुमय लिखकर उसे मधुर बनाने का प्रयत्न करते थे। आप जैसे व्यक्ति उनके पन्ने के पन्ने चाट जायँ तो भी समझेंगे आलिंगित नग से लिपटे हुए साँप ही! अपने competition में शेक्सपियर को भी शामिल कर लीजिए जो नींद की मधुमय ओस चाटता है—"Enjoy the honey-heavy dew of slumberi" ये तो हुए शहद की नहरों में तैरने वाले। अब आप यह भी बताइए कि खूब आपको किस पीपे में बन्द किया जाय जो कहते हैं—"यद्यपि बातचीत का विषय तत्व, यथार्थ और जीवन के रहस्य हैं लेकिन शराब और प्याले का ज़िक्र किये बगैर काम नहीं चलता।" हिन्दी-कवियों को अभी

शाहद की इतनी जरूरत नहीं है कि उसके बिना उनका काम ही न चले। अपने लिए कितनी नहरें खुदवाइएगा जो छपकोइया मारते हुए बेहोश होकर उसी में "डबकोइया" भी लेने लगें? बात करने का सलीक़ा सीखिए, सलीक़ा। और यह भी याद रखिए कि निरालाजी को शाहद की नहर में तैराने के पहले आपको शराब के पीपे में सही-सलामती से पैकर दिया जायगा और तब वहीं से कहिएगा—एक शेर मेरा भी सुन लीजिए।

आपने पंतजी के "मधुमय भोजन" पर भी आपत्ति की थी। "मधुमय" तो नापसन्द था ही, "भोजन" भी नहीं रुचा। पंतजी ने लिखा था-

"दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन।"

इस पर आपकी शोखी—"कभी भोजन और आहार के शब्द में जो अन्तर है, उस पर भी आपने विचार किया? या कोष के भरोसे कविता कर रहे हैं?" बड़ी बारीकी से आपने हिन्दी-शब्दों पर विचार किया है! प्रेमचन्दजी ने लिखा था—"प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है।" उन्होंने कोष देखकर भोजन लिख दिया था। आपने उन्हें आहार लिखना क्यों न सिखाया?

छोड़िए इन शब्दों को। हिन्दी-कविता ने कोष देखकर तत्सम शब्दों का फूहड़ और सिलपट प्रयोग किया है। आइए, अब उनके व्याकरण-सम्बन्धी दोषों पर विचार कीजिये, जहाँ वे क्रिया के साथ बहुत तरह के अन्याय करते हुए दिखाई देते हैं। पहली आपत्ति आपकी यह है कि हिंदी कवि क्रिया के 'था' या 'है' को उड़ा देते हैं और इस तरह हिन्दी-व्याकरण से अपरिचित होने का सबूत देते हैं। अगर आप पल्लव की भूमिका पढ़ें तो आप देखेंगे, पंतजी ने जान-बूझकर "है" को उड़ा देने की सलाह दी है। अब सवाल यह है कि हिन्दी-कविता की परम्परा उन्हें ऐसा करने की अनुमति देती है या नहीं। आपका विचार है—"संस्कृत के कवि भी, ब्रजभाषा के कवि भी और हिन्दी के अन्य बोलियों के कवि भी क्रियाओं के गले पर यों उलटी छुरी नहीं फेरते।" आपने ब्रजभाषा

की कविता पढ़ी होती तो यह उलटी छुरी वाली बात न लिखते। जब सूरदासजी कहते हैं—"निसदिन बरसत नैन हमारे",—तब आपकी समझ में आता है, पूर्ण क्रिया क्या होनी चाहिए? पूर्ण क्रिया होनी चाहिए, बरसत हैं! लेकिन महाकवि ने क्रिया को उल्टी छुरी से रेत दिया है। अगर आप कहें कि पूर्ण क्रिया "बरसत" ही है तो भी आपकी विद्वत्ता में धब्बा न लगेगा। ब्रजभाषा में पूर्ण क्रिया इस प्रकार होती है-

"स्याम करत हैं मन की चोरी।" पूर्ण क्रिया है—"करत हैं।"

"मनहुँ खेलत हैं परस्पर मकरध्वज द्वै मीन।"

पूर्ण क्रिया है "खेलत हैं।" परन्तु क्या सूरदास, क्या ब्रजभाषा के अन्य कवि क्रियाओं के खेलत, करत आदि रूप ही उनके यहाँ अधिक मिलेंगे। यानी "खेलत हैं" रूप पाँच फीसदी हैं तो "खेलत" रूप पंचानबे फीसदी। उल्टी छुरी से क्रियाओं को इतना रेता गया है कि उसमें दूसरी तरफ भी धार हो गई है।

"किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नंद कौं आँगन बिंब पकरिबैं धावत।"

या "हरि अपनैं आँगन कछु गावत।
तनक तनक चरननि सों नाचत मन हरिलेत रिझावत।"

ब्रजभाषा में अधिकाँश रूप रिझावत, गावत आवत, धावत आदि ही मिलेंगे। आपने कहीं लिखा था कि आप सूरदास के पदों पर सिर धुनते हैं। सिर धुनने के पहले आपने उनके कितने पद सुने थे जिनमें पूर्ण क्रियाओं का ही प्रयोग किया गया है? उनकी "दुमकटी" और "परकटी" क्रियाओं पर, आप कैसे रीझ गये? क्या ये विशेषण आपकी अक़्ल पर ही ज्यादा लागू नहीं होते।

जहाँ तक क्रिया के दो टुकड़े करके उन्हें उलटकर या कुछ फासले से रखने की बात है, वहाँ आप श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के इन प्रयोगों पर ध्यान दें। "चले जा रहे थे की" जगह "जा रहे थे चले" कोई नहीं कहता लेकिन कवि इस तरह के उलट फेर के लिए किसी हद तक बराबर स्वाधीन रहे हैं। श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर क्रिया के टुकड़ों को यों उलट कर

रखते हैं—"खुलि गेलो" को लिखते हैं। "गेलो खुलि" "भूलि गेलो" को "गेलो भूलि" "फुटे उठे" को "उठे फुटे" इत्यादि। नीचे की पंक्तियाँ देखिए—

"हृदय आजि मोर केमने गेलो खुलि।"
पराने कथा उठे बचन गेलो भुलि।"
"रौद्र उठे फुटे, जेगे उठे देश।"

"सागर पार गिये पूरबे जाबि मिशे,"

इसके सिवा क्रिया के दो टुकड़ों के बीच में सर्वनाम, संज्ञा आदि का रखना भी देखिए—

"शिहरिया मोर उठिबे काय।"
(शिहरिया उठिबे के बीच में मोर।)

"बलिते आमि पारिब ना तो भद्रतार वाणी।"
(बलिते पारिब के बीच में आमि।)

"लह मोरे तुले आलोक मगन मुरति भुवन हते।"
(मोरे तुले लह की जगह लह मोरे तुले।)

खैर, श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने भी बँगला को चौपट कर दिया। मैं पूछता हूँ कि आपने जब अपने पिता-जी की यह पंक्ति उद्धृत की थी तब आपका क्रिया-ज्ञान कहाँ घास चरने चला गया था।—

"गर्मी जो थी वो खुद पड़ी फैलाये पाँव थी।"

"पड़ी" और "थी" के बीच में गर्मी ने जो पाँव फैला दिये हैं, उस पर आपकी ज़बान क्यों नहीं खुलती।

अब पूर्वकालिक कृदंत लीजिए जिसका प्रयोग करते हुए हिन्दी कवि बहुधा "कर" या "के" उड़ा जाते हैं। पहले तो बँगला में इस कृदंत को छोटा करने की प्रणाली देखिए। रवींद्रनाथ ठाकुर बसिया, चाहिया, आसिया आदि के संक्षिप्त रूप बसि, चाहि, आसि आदि का बराबर प्रयोग करते हैं।

"जदि ओ क्लांति आसिछे अंगे नामिया।" यहाँ पूर्ण रूप नामिया है। परन्तु नीचे की पंक्ति में केवल नामि है—

"जे दिन हिमाद्रि शृंगे नामि' आसे आसन्न आषाढ़।"

बंगला की तरह ब्रजभाषा में भी पूर्वकालिक कृदंत का 'कै' अधिकतर उड़ा दिया जाता है।

"कछुक करुना करि जसोदा करति निपट निहोर"

यहाँ पूर्ण रूप "करिकै" होना चाहिए था, जैसे इस पंक्ति में—

"देखि सुदामा की दीन दसा
करुना करिकै करुनानिधि रोये।"

गोस्वामी तुलसीदास की यह पंक्ति देखिए—

"प्रभु रुख पाइकै बोलाइ बाल घरनिहिं,
बंदिकै चरन चहुँ दिसि बैठे घेरि घेरि।"

यहाँ पाइकै, बंदिकै पूर्ण रूप हैं परन्तु नीचे की पंक्ति में अपूर्ण रूप देखिए—

"छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगा जू को,
धोइ पायं, पीयत पुनीत बारि फेरि फेरि।"

यहाँ भरि, धोइ आदि के साथ कै चिह्न नहीं लगाया गया।

पुरानी हिंदी जाने दीजिए। हिंदी गद्य में ही लेखक "कर" या "के" उड़ा देते हैं फिर कविता में तो कुछ स्वच्छन्दता रहती ही है। आपने निरालाजी के "आलोकित कर" पर आपत्ति की थी; उसे होना चाहिए था, आलोकित करके। आप जिस तरह हर लेख में इस "कर" और 'के' के पीछे पड़ गये हैं उससे मालूम होता है कि बस इन्हीं से हिन्दी की सभ्यता असभ्यता का निर्णय होगा। इस "के" और "कर" को जहाँ तहाँ न देखकर आपने जो बेहूदा बाते कही हैं उन्हें मैं दोहराना नहीं चाहता। उन्हें याद कीजिए और नीचे की मिसालों पर ग़ौर कीजिए।

प्रेमचन्द हिन्दी के लेखक न सही उर्दू के लेखक तो थे। क्रिया है 'खड़ी करना' इसका पूर्वकालिक रूप हुआ 'खड़ो करके' जैसे आलोकित करना से आलोकित करके बना। अब देखिए प्रेमचन्द्र जी ने लिखा है- "हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे।" और श्रीराहुल सांकृत्यायन के प्रयोग देखिए

जिनकी विद्वता का ज़िक्र भी आपने कहीं किया है। कहते हैं--"हिन्दी उर्दू को अलग भाषाएँ स्वीकार कर हम एक दूसरे के साहित्य से परिचित होने के लिए रास्ता निकाल सकते हैं।"

यहाँ स्वीकार करके होना चाहिए था। इन उदाहरणों में तो दो 'कर' थे जिनमें एक उड़ाया गया है। राहुलजी तथा अन्य लेखक, समझकर की जगह समझ, घूमकर की जगह घूम लिखना भी अनुचित नहीं समझते पहले राहुलजी—"कितने लोग पंचों का फैसला सिर माथे पर कह हिन्दुस्तानी नाम को स्वीकार करने को तैयार हैं। (कहकर की जगह कह)

और भी—

"रूसी मध्य एशिया में किसी वक्त पढ़े लिखे लोग अपनी मातृभाषा गँवारू समझ साहित्यिक तुर्की को पढ़ते थे।" (समझकर की जगह समझ)

डा० राजेन्द्रप्रसाद—हिन्दी कविता पर आप जिनकी सम्मति जानने को उत्सुक हैं—

"वे अफगानितान के पश्चिम से उत्तर घूम मध्य एशिया में घुसे और इधर उन्होंने सिन्ध पर हमला कर उसे जीत लिया" (घूमकर, हमला करके)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—"जिस भैंसे को कानपुर की सड़कों पर गाड़ी खींचते देख करुणा आती है, वह वहाँ रावण के समान गम्भीर गर्जन कर रहा है"। (देखकर की जगह देख)। और अन्त में स्वयं प्रेमचन्द—

"काँपते हुए हाथों से रुपये लेकर आँखों में आँसू भर लौट आती"। (भरकर या भरके)

इन उदाहरणों को आँखें फाड़ फाड़कर देखिए और बताइए कि प्रसाद, निराला या पंत ने ही कौन सा अपराध किया था जो अपनी सारी भलमनसाहत आपने उन्हीं पर उड़ेल दी! थोड़ी सी डा० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद और राहुलजी को भी बाँट दीजिए। आपके सिर का बोझ हलका हो जायगा और तब दबी हुई

अक़्ल भी शायद आपको यह समझने का मौका दे कि गुस्ताख़ी और बदतमीज़ी का नाम समालोचना नहीं है।

आप हिन्दी कविता की खूब कड़ी आलोचना कीजिए, लेकिन कुछ पढ़ लिख लेने के बाद, उस विद्वता के भरोसे नहीं, जो भूसे के भाव बिक जाय। ब्रजभाषा की क्रियाओं का जिक्र कीजिए, उनका अध्ययन कर लेने के बाद। बारबार यह कहने के बदले कि बिना सुन्दर गद्य जाने सुन्दर पद्य नहीं लिखा जा सकता, पहले खुद सुन्दर नहीं तो सही गद्य लिखना सीखिए। मैं आपके लेखों में भाव प्रकाशन, शब्द चयन, शैली सौंदर्य आदि की बात नहीं करता। मैं यहाँ उन दोषों की बात करना चाहता हूँ जो सिर्फ चिट्ठी लिख पढ़ लेने वालों की हिन्दी में पाए जाते हैं। अगर आप हिन्दुस्तान में किसी को भी अपने से ज्यादा हिन्दी जानने वाला समझते हों, तो उससे पूछिए कि नीचे के प्रयोग सही हैं या गलत। सुन्दर गद्य के ये सब उदाहरण आपकी बातचीत और उर्दू कवियों की कल्पनाओं वाली लेख माला से लिये गये हैं।

"कविता को अच्छा या बुरा कहने के पहले यह देखिए कि उसके प्रत्येक वाक्य या जुमले खूबसूरत हैं या नहीं"। प्रत्येक लड़का प्रत्येक, अध्यापक प्रत्येक वाक्य, न कि प्रत्येक लड़कों, अध्यापकों या वाक्यों। उसके प्रत्येक वाक्य खूबसूरत हैं, गलत हिन्दी है।

"जिन्हें हम जनता कहते हैं, वह शिक्षित समाज से निटक आती जा रही है।" व्याकरण से दूर न जाकर उसके पास आइए। समाज के निकट, मेरे निकट, न कि मुझसे निकट, मुझसे पास या समाज से पास या समाज से निकट।

"आजकल की कविता जितना ही पढ़ता हूँ, आधुनिक हिन्दी-कविता में अशुद्धियों की उतनी ही भरमार पाता हूँ" अपनी अशुद्धियों पर भी ध्यान दीजिए। सर्वनाम किसलिए बनाये गये हैं! आधुनिक हिंदी कविता का वही अर्थ है, जो आजकल की हिन्दी कविता का। आपका वाक्य यों हुआ—आजकल की कविता जितना ही पढ़ता हूँ। आजकल की हिन्दी कविता में अशुद्धियों की उतनी ही भरमार पाता हूँ।"

"निम्नलिखित कविता में आप शैली का वह सौंदर्य पायेंगे, जनता की बोली का वह चमत्कार देखेंगे जो कविता को सफल बनाती है और ठेठ और सरल रखते हुए भी उसे विद्वत्ता पूर्ण बना देती है।" बनाती है और बना देती है क्रियाओं के कर्त्ता ढूढ़िये। सौन्दर्य और चमत्कार "जो कविता को सफल बनाती है उसे विद्वतापूर्ण बना देती हैं!" झख-मार गद्य का कैसा सफल उदाहरण है।

"जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है हिन्दी और उर्दू कविता दोनों में कठिन संस्कृत और फारसी शब्दों को छोड़कर आपस में बहुत मिलते-जुलते हैं।" क्या मिलते जुलते हैं? शब्द? आप कहना चाहते थे कि हिन्दी और उर्दू कविता कठिन शब्दों को छोड़कर मिलती जुलती हैं। लेकिन वाक्य के अन्त तक पहुँचते पहुँचते लड़खड़ा गये।

"यह बात जब पैदा हो सकती है, तरक्की की उस मंजिल पर हम उस वक्त आ सकते हैं, जब बीस पचीस बरस तक कई लाख लड़के......" उस वक्त के साथ "जब" ठीक है लेकिन जब के साथ जब भद्दा है। "यह बात जब पैदा हो सकती है जब कोई लाख लड़के हिन्दी-उर्दू पढ़ें—" यह फूहड़ हिन्दी है।

"हिन्दी के जिन संस्कृत टुकड़ों से उर्दू वाले झझकते हैं और उर्दू के जिन फारसी अरबी टुकड़ों से हिन्दीवाले झझकते हैं, यह डर और झझक इस कारण है कि..." उन संस्कृत और फारसी अरबी के टुकड़ों का क्या हुआ, जिनके पहले दो "जिन" बैठे हुए हैं? "जिस आदमी से मैं डर रहा था वह डर इस कारण है—" इसी सुन्दर गद्य के भरोसे आप सुन्दर पद्य लिखते हैं।

"अपनी मातृ भाषा को सीखने की तरह सीखना और उसे आने की तरह आना बड़ा मुश्किल है।" बात ठीक है; अपना ही वाक्य देखिए। हिन्दी या उर्दू का आना मुश्किल है, न कि हिन्दी को आना, उर्दू को आना, उसको आना या उसे आना। "मातृ-भाषा को" के सम पर आप "उसे" आना लिख गये हैं।

"जब तक आँस बनकर आँखों से न टपके तब तक मैं रक्त के संच-

लन और रक्त के रक्त होने का मैं कायल नहीं।" चाहे सादे आँसू गिरा इए, चाहे रक्त के यह "मैं मैं" की मधुर ध्वनि बन्द कीजिए।

"उर्दू कविता में हर वाक्य में तान क्रिया पर टूटती है और ऊपर दी हुई मिसालों से आप क्रिया के प्रयोग की रौशन और शानदार मिशाले देखेंगे।" मिसालों से मिसालें आपने खूब दिखाई हैं जैसे लोग बात में बात ढूँढ़ निकाले हैं।

"पहली पंक्ति में प्रायः तो बीस से तीस फीसदी तक तो फ़ारसी शब्द होंगे।" तो से आपको इतनी मोहब्बत क्यों है?

"श्री राहुल सांकृत्यायन ऐसे लोग भी जो बहुत कुछ इस जमाने से और विश्व साहित्य से फायदा उठा चुके हैं, वह भी ऐसी भाषा लिखने लगते हैं जिनमें संस्कृत हिन्दी का गला घोंटती हुई नजर आती है।" "वह भी" निरर्थक है, क्योंकि श्री राहुल सांकृत्यायन अपने साथियों के साथ कर्त्ता रूप में डटे हुए हैं और "जिनमें" किनमें? भाषा में? यह तो कठिन हिन्दी नहीं है, संस्कृत नहीं है। अलिंगित नग और (कृति आपकी कीर्ति) भी नहीं है। तब 'जब', 'जो', 'से' आदि की गलतियाँ आप क्यों करते हैं।

"गुरु की एक दृष्टि ने उनको मामूली तुकबंदी से उन्हें महाकवि बना दिया।" उनको, फिर उन्हें, होश में या बेहोशी में?

"क्या इस दृश्य से एक अर्धज्ञात रूप से कुछ शोक, कुछ पछताना, कुछ करुणा आपके दिल में पैदा नहीं हुआ।" सुन्दर गद्य की मिसालें देखकर आपके दिल में कुछ पछतावा पैदा हुआ। इसी तरह अपने दिल में कुछ रोना कुछ चिल्लाना भी पैदा कीजिए। और करुणा लिखने के बाद क्रिया "पैदा हुआ"? करुणा पैदा नहीं हुई? यह भी अध्यात्मवाद की तरह मुश्किल है क्या?

"संसार की सभा के रौनक़ जलते हुए दिल हैं।"

और—"रात भर की महफिल के रौनक़ की केवल एक यादगार थी।" आपके लेख हिंदी के रौनक़ हैं? मजा यह कि रौनक़ उर्दू में भी स्त्रीलिंग है।

"दाग़ के शागिर्द नूह नारवी भी, जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है। एक अच्छा सा शेर कह गये हैं।" "जिसका" लिखने के बाद आपको गौरवे बहुवचनं लिखने की सूझी।

"अंत में एक शेर अपने स्वर्गवासी मित्र माजिद इलाहाबादी का सुना रहा हूँ जो उसी दिन से मेरे हृदय में गूँज रहा है जो अब से बीस बरस पहले हालैंड हाल इलाहाबाद के मुशायरे में अपने खास लय में सुनाया था।" बड़ा रचा हुआ वाक्य है। उसी दिन से जो मुशायरे में सुनाया था। कमाल की वाक्य रचना है।

"उनकी यही आकांक्षा होती है कि जो भाव चहारदीवारी के अन्दर उनके दिल में उठ रहे हैं उसी, की नाद वह कैदखाने के बाहर भी सुनी" किसको नाद ? उन भावों की जो चहारदीवारी के अंदर उनके दिल में उठ रहे हैं ? उसी की नाद। एक तो नाद फिर भावों की नाद नाँद में खली भुस खाकर जैसे कुछ पशु नादविशेष करने लगते हैं वैसे ही आपके भावों की नाद है। जिसे आप चहारदीवारी के बाहर के लोगों को भी सुना देना चाहते हैं।

"कालिदास के ऋतुसंहार में तो छः ऋतु माने गये हैं" और "खिजा के ऋतु पर किसी ने मुस्करा दिया"—ऐसे वाक्य हैं जिन पर हिंदी लिखने वाले मुस्करा देंगे। रुत लिखें तो और भी अच्छा मालूम हो। कालिदास के "रुत संहार" में तो छः "रुत" माने गये हैं। उर्दू में भी "रुत" स्त्रीलिंग है, लेकिन आप हिंदी में—अपने विशेष व्याकरण ज्ञान के कारण उसे पुलिंग मान लेते हैं। खिजा के ऋतु से आपके हिंदी ज्ञान पर अधिक प्रकाश पड़ा है या उर्दू ज्ञान पर।

"अध्यापक की हैसियत से हिंदी के सैकड़ों विद्यार्थी और प्रेमी मुझसे बराबर मिलते रहते हैं।" आपके हिंदी ज्ञान को देखते हुए कोई आश्चर्य नहीं यदि हिंदी के विद्यार्थी आपसे अध्यापक की हैसियत से मिलते रहे हों। ऊपर के वाक्य में अपनी हैसियत पर ध्यान दीजिए। अध्यापक की हैसियत से विद्यार्थी आपसे मिले इसका यही अर्थ है कि विद्यार्थियों की हैसियत अध्यापकों की थी और अध्यापकजी विद्यार्थिओं से भी गये बीते निकले।

"मुझे तो यह लेख लिखने के बाद खुद शंका होने लगा !" अभी बहुत तरह की शंकाएँ होंगी ; लेख लिखने के बाद तो एक ही शंका हुआ था।

"और न शैली की इस पंक्ति में जो उन्होंने पछुआ हवा को सम्बोधित करते हुए कहा।" इस पंक्ति में जो उन्होंने कहा ?

"यह शब्द-प्रणाली हिन्दी में अरुचिकर समझा जाता है।" पाठकों के लिए टीका की जरूरत नहीं लेकिन श्रीरघुपतिसहाय को अब भी अपनी गलती हुई मालूम न हो तो बता दूँ कि "प्रणाली समझी जाती है" होना चाहिए।

"हम तीसरी पंक्ति की संस्कृतमय भाषा को जभी कविता में जगह दे सकते हैं जब इसके ऊपर की दोनों पंक्तियाँ बहुत सरल और स्वाभाविक होतीं।" वाह रे जभी, जब के फूहड़पन !

"लेकिन यह तो बताइए कि धनुष तो खींचने से झुकती है।" कहाँ के रहने वाले हैं आप ? वहाँ धनुष झुकती है, हाथी जाती है, फिराक़ लिखती है,—लोग इसी तरह बोलते हैं क्या ?

"उर्दू साहित्यसेवी दो सौ बरस की लगातार परिश्रम से हिन्दी ही से लेकर हिन्दी को दे पाये थे।" मेहनत क्यों न लिख दिया जो परिश्रम आपको ले डूबा। आप कहेंगे "परिश्रम" मुझे ले डूबी !

"न जाने हमारे हिन्दी लेखकों की शैलीज्ञान या शब्दों के रूपज्ञान को क्या हो गया है।" अपनी व्याकरण-ज्ञान को तो सँभालिए। आपकी शैली-ज्ञान पर लिखूँगा तो माधुरी का एक विशेषाँक तैयार हो जायगा।

"कृपया हिन्दी पर अनुकम्पा करके धूलिधूसरित लिखना छोड़ दीजिए।" "कृपया" हिन्दी पर "कृपा करके", "कृपया" और "अनुकम्पा" एक ही वाक्य में लिखना छोड़ दीजिए।

"हमारे भारतवर्ष में सूरदास के बहुत से भजन, मीरा, तुलसीदास, कबीर इत्यादि की रचनाएँ जो स्थान हमारे सामूहिक जीवन में रखती हैं, गिस्सिंग ने अँगरेजी कविता को जन-साधारण से उसी तरह व्यापक बनाया।" उस "जो स्थान" का क्या हुआ मुंशीजी ? बड़ी सुन्दर

वाक्य-रचना है आपकी !

"अँगरेजी का वह उच्च कोटि का महान् लेखक था।" अगर मैं यह न कहूँ कि आप हिन्दी के उच्च कोटि के महान् लेखक हैं तो आपको शायद अपनी ऊँचाई का सही अन्दाज़ न हो।

"और उसके समूचे काव्यरचना में लगभग एक लाख शब्द आये हैं।" आपके गद्य-रचना में "उतने" ही गलतियाँ भी हैं।

"वही संस्कृत आज हिन्दी-भाषा के लिए एक जान लेवा खतरा बन गया है।" संस्कृत खतरा बन गया है। अक्ल चिड़िया बनकर उड़ गया है। इन लेखों का हिन्दी खूब रच गया है। आपका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गई थी; अब वह नीचे उतर आयेगी।

"मैं उर्दू कवियों की कल्पनाएँ पर जो लेखमाला लिखता रहा हूँ, अगर उन्हें आपने देखा होगा..." जो लेखमाला आपने लिखी है, "उन्हें" जरूर देखा है। सुन्दर गद्य के नमूने भी "उन" लेखमाला से दिये हैं।

"हिन्दी गद्य-पद्य अभी उतनी सरल और स्वाभाविक नहीं है, उतनी मँजी हुई नहीं है"—और भी "फारसी की ललित और सरस, सुसंस्कृत और संगीतपूर्ण गद्य-पद्य सुनकर प्रसन्न होने का अधिकार नहीं रखते ?" टीका-टिप्पणी अनावश्यक।

"किसी में चेतना उत्पन्न किया जा सकता है।" सचेत हो जाइए।

"वह अँगरेजी के विद्वान् जिनकी इज्जत खुद हिन्दी-जगत करती है।"

कहाँ तक गिनाऊँ। हाथ थक गया और शायद आप भी अघा गये होंगे। जब अपने लेख पुस्तक-रूप में प्रकाशित कीजिए तो इन प्रयोगों को रेखांकित कर दीजिए जिससे हिन्दी लिखने वालों को विशेष लाभ हो। इनसे चौगुने अभी मेरे पास और बाकी हैं जो जरा भी कम विद्वत्तापूर्ण नहीं हैं। लेकिन असर होना होगा तो इतने उदाहरणों से ही हो जायगा। न होना होगा तो दो-चार सौ भी कम हैं।

———

बालमुकुन्द गुप्त

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु के जीवन-काल में ही उर्दू के प्रसिद्ध लेखक बन चुके थे और उनके निधन के दो साल बाद वह हिन्दी के समर्थ लेखक बनकर साहित्य के मैदान में आए। भारतेन्दु-युग के साथ उनका बड़ा ही सजीव सम्बन्ध था। प्रताप नारायण मिश्र के साथ वह काला कॉंकर से निकलने वाले 'हिन्दोस्थान' में काम कर चुके थे। भारतेन्दु के समकालीन दूसरे लेखकों के साथ भी उनका नजदीकी परिचय था और कुछ के साथ उन्होंने काम भी किया। दुर्गाप्रसाद ने 'सार सुधानिधि' नाम का पत्र निकाला था और सदानन्द मिश्र उसका सम्पादन करते थे। इसके लिए बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था—'बाबू हरिश्चन्द्र जी उससे बड़ा प्यार रखते थे।' दुर्गाप्रसाद जी ने 'उचितवक्ता' नाम का पत्र भी निकाला था जिसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र भी लिखा करते थे। जब बालमुकुन्द हिन्दी 'बंगवासी' में काम करने आए, तब वह दुर्गाप्रसाद जी के ही यहाँ रहे। प्रताप नारायण मिश्र के शिष्य प्रभुदयाल भी वहीं काम करते थे जिनके लिए उन्होंने गुप्त जी को लिखा था—'हमारा प्रभुदयाल भी वहाँ है, उसका ध्यान रखना।'

बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग के महारथियों में एक साधारण सिपाही की तरह शामिल हुए, लेकिन बहुत जल्द उन्होंने सेनापति का स्थान पा लिया। उस युग के तमाम लेखक उन्हें अपना नेता मानने लगे। वह भारतेन्दु के सच्चे उत्तराधिकारी साबित हुए। भारतेन्दु की तरह वह हिंदी-उर्दू दोनों के लेखक थे। वह भारतेन्दु की तरह देश-भक्ति और जनतन्त्र के हिमायती थे, व्यंग्य और हास्य लिखने में कमाल करते थे, अपनी पीढ़ी को हिन्दी भाषा और जनता की सेवा करने के लिये जबर्दस्त प्रोत्साहन देते थे। भारतेन्दु की तरह वह बहुत ही सहृदय

और एक सच्चे मित्र थे। भारतेन्दु की तरह वह अभिमानी के नगद दमाद थे।

बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी भाषा और साहित्य की जातीय परंपरा को मजबूत किया। २१ अक्तूबर, १९०६ ई० के दिन गुप्त जी ने अपनी डायरी में लिखा था—'दयानारायण जी निगम नवावराय, सहित मिले। स्टेशन के एक गोरे ने उनसे बड़ा खराब 'बरताव' किया। खराब क्या, बड़ी बेईमानी और बदनीयती की।' यह नवाबराय—भावी प्रेमचन्द—बालमुकुन्द गुप्त की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले लेखक थे। बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी, उर्दू दोनों के सफल गद्य लेखक थे। अंग्रेजी राज के लिए उनके दिल में बेहद नफरत थी, आसान हिन्दी के वह जबर्दस्त हिमायती थे, देश की गरीब जनता से उन्हें सच्चा प्रेम था, - प्रेमचन्द ने बालमुकुन्द गुप्त की इन तमाम खूबियों को अपनाया और एक कथाकार की रचनात्मक प्रतिभा से उन्हें विकसित किया।

भारतेन्दु के जमाने में ही पूरी, 'अमी की कटोरियों से विक्टोरिया रानी के सुराज का रहस्य खुलने लगा था। १९ वीं सदी के समाप्त होते होते भारत में अँग्रेजी पूँजी की आमद होने लगी। अब अँगरेज पूँजीपति भारत में बिकाऊ माल ही न भेज रहे थे उसमें अपनी पूँजी भी लगा रहे थे लेकिन इससे देश की दशा में तबदीली न हुई बल्कि आम जनता की हालत और भी गिर गयी। अंग्रेजों ने जनता के असन्तोष को दबाने के लिए एक तरफ दमन का सहारा लिया दूसरी तरफ सुधारों का लालच देकर सुधारवादी नेताओं को फुसलाना शुरू किया। कर्जन और मार्लो के दाँव-पेच एक ही नीति के दो पहलू जाहिर करते थे। बालमुकद गुप्त ने दमन का विरोध किया और साम्राज्यवादी सुधारों का पर्दा फाश किया।

बालमुकद गुप्त ने अपने लेखों और कविताओं से हिन्दुस्तान के जन जागरण में बहुत बड़ी मदद की। वह एक निडर और साहसी लेखक थे और उन पत्रों का मजाक उड़ाते थे जो ढुलमुल नीति पर चलकर सरकार और जनता दोनों को खुश रखना चाहते थे। 'पालिसी के

हिसाब से 'अवध अखबार' बेसूंड का हाथी है।' 'अवध अखबार' पर सर्व साधारण का प्रेम कभी नहीं हुआ", अवधपंच 'जानता था कि देश के लिए कौन सी पालिसी दरकार है। वह सदा प्रजा का तरफदार रहा', 'भारत-जीवन' सदा एक दब्बू अखबार रहा। स्वाधीनता से लिखने का उसे कभी हौसला नहीं हुआ''—इन वाक्यों से जाहिर होता है कि बालमुकन्द गुप्त किस तरह की पत्रकारिता पसन्द करते थे। वह हमेशा प्रजा के तरफदार रहे और स्वाधीनता से लिखते रहे।

कालाककार के 'हिन्दोस्तान' के देश-भक्त मालिक ने उन्हें इसलिए हटा दिया कि वह अंग्रेजों के खिलाफ बहुत कड़ा लिखते थे। बालमुकुन्द गुप्त ने राजाओं और पूंजीपतियों का मुंह नहीं देखा। अपने देश की स्वाधीनता और संस्कृति के लिये लड़ते हुए उन्हें आम जनता का ही भरोसा और सहारा था। हैदराबाद के दीवान महाराजा सर कृष्ण प्रसाद ने जब उन्हें बुलवाया तब उन्हीं ने कह दिया—"मेरे 'भारत मित्र' पत्र को २) रु० वार्षिक देकर जो ग्राहक पढ़ता है, वही मेरे लिए महाराजा कृष्ण प्रसाद है। यदि महाराज को मुझे जानना है कि मैं क्या हूँ, तो उनसे कहिए कि २) रु० वार्षिक भेजकर 'भारत-मित्र' के ग्राहक बन और उसे पढ़ा करें। मुझे आने का अवकाश नही हैं।" (बालमुकुन्द स्मारक ग्रंथ, पृ० २७४)। इससे एक स्वाधीनता प्रेमी पत्रकार का स्वाभिमान प्रकट होता है। अंग्रेजों की चाटुकरता करने के लिये वह देशी राजाओं को बुरी तरह फटकारते थे। अंग्रेजों की प्रशंसा में गीत गाने के लिए ग्वालियर के राजा को उन्होंने इसी तरह फटकार बताई थी।

बालमुकुन्द गुप्त ने पत्रकारिता को एक कला बना दिया। उन्होंने हिन्दी गद्य की छिपी हुए शक्ति को प्रकट किया; गद्य इतना सुंदर और कलापूर्ण हो सकता है, इस पर उनकी रचनाएँ पढ़कर ही विश्वास होता है। उनकी कला, व्यंग्य, हास्य लतीफा, सरल मुहावरेदार जबान युक्ति और तर्क से निखरी हुई है। वह हास्य और करुणा को मिला देने में अपना सानी नहीं रखते। एक तरफ वह अँगरेज गवर्नरों और

वायसरायों पर व्यंग्य बाण बरसा कर पाठक को हंसाते हैं तो दूसरी ओर जनता की गरीबी और दीनता की तस्वीर खींचकर उसे दुःखित भी कर देते हैं। उनकी कला का रहस्य उनका चरित्र था। वह जो भीतर थे वही बाहर। नकल और बनाव-सिंगार से उन्हें नफरत थी। वैसा ही उनका गद्य होता था सरल, लेकिन चोट करने वाला। कहावतों और लतीफों की तो शायद उनके पास खान थी। ऐसे मौके से जमाते थे कि जबाब देते न बन पड़े।

उनके शिव शंभु के चिट्ठे व्यंग्य पूर्ण गद्य की अपूर्व मिशालें हैं। प्रेमचन्द्र और निराला के सिवाय ऐसा व्यंग कम लोग लिख पाए हैं। पहले ही खत में बुलबुलों का रूपक बाँधकर कर्जन के भारत विरोधी कामों का उन्होंने खाका खींच दिया है। शिव शंभु के नाम से वह जगह-जगह भारत की धरती, उसकी जनता, उसकी संस्कृत से अपार प्रेम प्रकट करते हैं और कर्जन को याद दिलाते हैं कि उसका राज हमेशा न रहेगा। उसका स्वागत करने के लिए 'कोड़ियों राजा, रईस बम्बई दौड़े गए'। बालमुकुन्द गुप्त उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। प्रतापी ब्रिटिश राज्य की तस्वीर खींचते हुए समुद्र को उसका मल्लाह और पहाड़ों की उपत्यकाओं को उसके कुर्सी मोड़े बताकर उन्होंने उसकी कमजोरियाँ दिखला दी हैं। ब्रिटिश राज के वैभव से वह भारत की अजेय जनता की तुलना करते हैं। वह याद करते हैं—"विक्रम, अशोक, अकबर के साथ यह भूमि नहीं गई। औरंगजेव, अलाउद्दीन इसे मुट्ठी में दबाकर नहीं रख सके। महमूद, तैमूर और नादिर इसे लूट के माल के साथ ऊटों और हथियारों पर लादकर न ले जा सके"। इस तरह के वाक्यों में उनकी शैली उदात्त बन जाती है, वह आत्म विश्वास से पूर्ण एक देश भक्त हृदय का अभिमान प्रकट करती है। राजा और प्रजा के बीच की खाई की तरफ उन्होंने बार-बार इशारा किया है। ब्रिटिश राज की यह विशेषता भी थी। जब वह 'भेड़ों और सूअरों की भांति सड़े गन्दे झोपड़ों में' लोटने वाली कलकत्ता महानगर की लाखों प्रजा का चित्रण करते हैं तो उनका आवेश

और क्रोध देखते ही बनता है। बालमुकुन्द गुप्त ने बे घर और बे रोज-के गार जनता की मुसीबतों से अँग्रेज शासकों के वैभव की तुलना करके अँग्रेजी राज्य के जनवादी ढोंग का भंडाफोड़ कर दिया। शिव शंभु लिये उन्होंने लिखा था–"वह आपकी गूँगी प्रजा का वकील है।" वह भारतीय जनता के वकील थे और उन्होंने वकालत किसी अँग्रेज जज के सामने नहीं की थी, बल्कि देश की जनता के सामने ही की थी। उसे अपने अधि-कारों का ज्ञान कराने के लिए बंगभंग का विरोध करके उन्होंने बंगाली और हिन्दोस्तानी जातियों के परस्पर प्रेम को दृढ़ किया और राष्ट्रीय आन्दोलन को बल दिया। कर्जन ही नहीं मिन्टो और मोर्लों के ढोंग को भी उन्होंने परख लिया और गधी को गधा कहने वाले देहाती की मिशाल देकर बंग भंग को 'सेटल्ड फैक्ट' कहने वाले मोर्लों को आड़े हाथों लिया।

बालमुकुन्द गुप्त उन सजग लेखकों में से थे जिन्होंने अँग्रेजी जन-तंत्र के रहस्य को समझ लिया था। इस जनतंत्र में दो पार्टियाँ होती थीं, लेकिन दोनों का काम था, भारत की जनता का शोषण करना। उन्होंने मोर्लो के भारत मंत्री होने पर बँगालियों में जो नई आशाएं पैदा हुई थीं उन्हें निराधार बताते हुए लिखा था—'नहिं कोई लिबरल नहीं कोई टोरी। जो परनाला सो ही मोरी।' गुप्त जी अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुँचे थे—'कोई पराधीन जाति अपनी चेष्टा बिना, खाली दूसरे की मदद से, कभी स्वाधीन नहीं हो सकती'। उनकी बात कितनी सच थी, यह हम आज के हिन्दुस्तान की हालत देखकर अच्छी तरह समझ सकते हैं।

हिन्दी-उर्दू के जिन पत्रकारों ने अँग्रेजी दमन का मुकाबला किया था, विचार करने की आजादी के लिए जेल भेजे गए थे, गुप्त जी उनका स्वागत करने वालों में से सबसे आगे थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लोक-मान्य तिलक आदि की गिरफ्तारियों पर उन्होंने निडर होकर उनका समर्थन किया था। पत्र लिखने के बहाने अँगरेजी राज की पोल खोलने और उसका विरोध करने का तरीका गुप्त जी का अपना था। उन्होंने

कर्जन और मोर्ले के नाम ही पत्र नहीं लिखे, शाइस्ताखाँ की तरफ से फुलर को भी पत्र लिखे जिनमें उन्होंने दिखलाया था कि अँगरेजी हुकूमत में जनता की जो दुर्दशा हुई है, वह पहले कभी नहीं हुई थी। शाइस्ता खाँ के जमाने में ढाके में आठ रुपये मन चावल बिका था। अँग्रेजों ने सामंती उत्पीड़न बहाल रखते हुए उस पर अपने सौदागरी अत्याचार और लाद दिए। बालमुकुन्द की पैनी निगाह से अँगरेजी अत्याचार की यह विशेषता छिपी न रही। उन्होंने आठ रुपये मन चावल की याद दिलाते हुए शाइस्ता खाँ के नाम से लिखा—'अँगरेजी में ऐसा न हुआ, न है और न हो सकता है। जहाँ तुम्हारी हुकूमत जाती है, वहाँ खाने पीने की चीजों में एकदम आग लग जाती है, क्योंकि तुम हम लोगों की तरह खाली हाकिम ही नहीं हो, साथ-साथ बक्काल भी हो। उस अपने बक्कालपन की हिमायत के लिए ही हमारे जमाने को बँगला में खींचकर ले जाना चाहते हो। जो बादशाह भी है और बक्काल भी है, उसकी हुकूमत में खाने पीने की चीजें सस्ती कैसे हो?

शाइस्ता खाँ के खतों में बालमुकुन्द ने दिखलाया है कि अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमानों के मेल की तमाम बातें कैसे खतम कीं और कैसे वे जनता पर पहले से कहीं ज्यादा अत्याचार करने लगे। उन्होंने हिन्दुस्तान के इतिहास पर नई रोशनी डालते हुए शाइस्ता खाँ के जमाने में 'कमीने झगडालू लोग और बेईमान बक्काल' अंग्रेजों का जो विरोध हुआ था, उसके बारे में तथ्य पेश किए। 'वन्दे मातरम्' कहने पर अंग्रेजों ने जो पाबन्दी लगाई थी, शाइस्ता खाँ से उसका विरोध कराके बालमुकुन्द गुप्त ने संकेत किया कि अंग्रेजों का मुकाबला हिन्दू और मुसलमान दोनों को करना चाहिए।

बालमुकुन्द गुप्त पुरानी चाल के हिन्दू थे। सनातन धर्म, जाति प्रथा, पुराने रीति-रिवाजों में विश्वास करते थे। वह कभी-कभी नई पीढ़ी के लेखकों द्वारा धर्म की आलोचना से नाराज भी हो जाते थे। जाति प्रथा टूट रही थी, इस पर उन्हें अफसोस होता था। फारसी लिपि का विरोध करते हुए उन्होंने कभी-कभी ऐसी बातें कहीं जो साम्प्र-

दायिक थीं और उनकी शान के खिलाफ थीं। कुछ लोग बालमुकुन्द गुप्त की सबसे अच्छी देन इसी को मानते हैं। लेकिन वास्तव में हिन्दुओं-मुसलमानों को नजदीक लाने में राष्ट्रीयता और जनतंत्र के भाव फैलाने में और जनता को लड़ाने वाली अंग्रेजी कूटनीति का भंडाफोड़ करने में जितना काम उन्होंने किया, उतना प्रेमचन्द के अलावा किसी ने नहीं किया। गुड़ियानी में जहाँ उनका जन्म हुआ था, मुसलमान ज्यादा तादाद में थे। वह मुसलमानों की जिन्दगी से अच्छी तरह परिचित थे, उनके साथ खेले कूदे थे, शिक्षा पाई थी और 'उर्दू-फारसी के शिक्षा गुरुओं में गुप्त जी मुंशी वजीर मुहम्मद के अतिरिक्त गुड़ियानी के मुन्शी बरकतअली का नाम भी कृतज्ञता के साथ याद किया करते थे। उर्दू की पद्य रचना में 'वह मिर्जा सितम जरीफ को अपना उस्ताद मानते थे।' (बालमुकुन्द-स्मारक ग्रंथ, पृ० १८)। 'शाद' नाम से वह उर्दू में कविता करते थे। झज्जर की रिफाहे आम सोसाइटी में वह अपनी उर्दू कवितायें सुनाया करते थे। उनके हिन्दी गुरु प्रताप नारायण मिश्र स्वयं उर्दू में कविताओं का एक पूरा दीवान छोड़ गये थे। वह, 'जमाना' में बराबर लिखते रहे, उन दिनों में भी जब वह हिन्दी में चोटी के लेखक माने जाते थे। इस प्रसिद्ध पत्र से उनका संबंध करीब-करीब वैसा ही था जैसा प्रेमचन्द का। उन्होंने लिखा था—"शिवशंभु को भारत मित्र के बाद अगर किसी से प्रेम है तो 'जमाना' से।...जमाना के लिए ही बेचारे शिवशुंभ ने बुढ़ापे में फिर उर्दू लिखना सीखा है।"

बालमुकुन्द को उर्दू से नफरत नहीं, उससे प्रेम था। वह चाहते थे कि उर्दू वाले हिन्दी लिखें और हिन्दी वाले उर्दू। उन्होंने कई जगह लिखा था कि अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू सीखना जरूरी है। अगर वह उर्दू को अरब जेहादियों का कीर्त्ति स्तम्भ समझते तो ऐसा न लिखते। यह खुशी की बात है कि उनके निबंधों का संग्रह करने वालों ने उनके हिन्दी लेखों के साथ उनके कई उर्दू लेख भी दिए हैं। बालमुकुन्द को हिन्दी-उर्दू की एकता पर दृढ़ विश्वास था। वह अरबी-

फारसी से लदी हुई उर्दू और संस्कृत के भार से दबी हुई हिन्दी के विरोधी थे। वह हिन्दी-उर्दू के दो साहित्य संभारों को मिलाने वाली एक विशाल धारा की तरह थे। वह दोनों के ही साहित्यकारों और पत्रकारों की संकीर्णता और सम्प्रदायिकता की आलोचना भी करते थे। जो मुसलमान हिन्दुओं को गालियाँ देते थे, उनके लिए उन्होंने लिखा—'उससे मुसलमानों का कुछ लाभ नहीं होता। हां, हानि खूब होती है।' और मुसलमानों को गालियाँ देने वाले हिन्दुओं के बारे में लिखा था—'अपनी समझ में वह ऐसा करके हिन्दुओं के साथ मित्रता करते होंगे, पर असल में वह हिन्दुओं ही के दुश्मन हैं।' (गुप्त-निबंधावली, पृष्ठ २७६)।

गुप्त जी साधारण पत्रकार नहीं थे। वह जनता के हितों के प्रहरी थे। उनकी भाषा सरल और मुहावरेदार थी, क्योंकि वह अपनी बात फरिश्तों को नहीं, आम जनता को सुनाना चाहते थे। हिन्दी-उर्दू के भेद का एक बहुत बड़ा कारण वह लिपि का भेद मानते थे। इसलिए वह फारसी लिपि की जगह देवनागरी लिपि रायज करने के पक्षपाती थे। 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर उनकी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से टक्कर हुई। बालमुकुन्द गुप्त ने अद्भुत व्यंग्य और युक्तियों से द्विवेदी जी की धारणाओं का खंडन किया। 'आत्मराम' के नाम से लिखे हुए वे निबंध विवाद कला के अनूठे उदाहरण हैं। गुप्त जी सब्र से काम लेते हुए व्यंग्य और विनोद से अपने विरोधी को निःशस्त्र कर देते हैं। यह टक्कर एक शब्द को ही लेकर न थी, यह दो शैलियों की टक्कर थी, एक तो भारतेन्दु, प्रताप नारायण, बालमुकुन्द गुप्त की शैली और दूसरी महावीर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर 'प्रसाद' की शैली। शैली के साथ दृष्टिकोण में भी अंतर था। बालमुकुन्द गुप्त के लिए भाषा साध्य नहीं, साधन थी। वह सबसे पहले देश की स्वाधीनता और जनता के हितों के लिए लड़ने वाले साहित्यकार थे, पीछे और कुछ। आचार्य द्विवेदी पहले वैयाकरण और भाषा सुधारक थे। पीछे और कुछ। इसलिए वह हर जगह भाषा सुधार नहीं पाये, कहीं-कहीं सुधारने

में बिगाड़ भी गए हैं। उनकी शिष्य-मंडली ने उनके भाषा-सुधार को इतना बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया कि लोग यह भूलते-से जाते हैं कि द्विवेदी जी से पहले एक साहित्यकार और भी था जिसके लिए द्विवेदी जी ने ही कहा था—'अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त'। (बालमुकुन्द गुप्त-स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३६८)

गुप्त जी ने भाषा को सुधारा ही नहीं, व्याकरण की गलतियाँ ही दुरस्त नहीं कीं, उसमें वह रवानी भी पैदा की जो द्विवेदीजी के यहाँ कम मिलती है। उनके हाथ में हिंदी गद्य इतना निखरकर कलापूर्ण हो गया कि उसे पढ़ने में कविता का-सा आनन्द आता है। वह शब्दों की ध्वनि उनके वजन, उनकी व्यंजना-शक्ति के बहुत बड़े पारखी थे और किसी भी तरह के भाव प्रकट करने के लिए उन्हें शब्दों की राह न देखनी पड़ती थी। प्रेमचन्द की तरह भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। हिंदी गद्य लिखने के लिए उनके निबन्धों को बार-बार पढ़ना और घोखना जरूरी है।

बालमुकुन्द गुप्त इतिहासकार भी थे और औरङ्गजेब के समय अँगरेजों को जो लोहे के चने चबाने पड़े, यह उनकी खोज थी। उन्होंने हिंदी-उर्दू अखबारों का इतिहास लिखकर, हिन्दी-उर्दू-लेखकों के जीवन-चरित लिखकर हिन्दी-भाषी प्रदेश की जनता बहुत बड़ा उपकार किया। हम अपनी जाति का सांस्कृतिक इतिहास लिखना चाहें तो उनकी रचनाओं से बहुत बड़ी मदद मिल सकती है। वह कवि भी थे, विशेषकार भारतेन्दु-युग की हास्यरस वाली शैली को उन्होंने खूब अपनाया था। वह गाँवों की साहित्यिक परंपरा को खूब जानते थे, टेसू और जोगीड़ा लिखकर राजनैतिक शिक्षा देने में वह एक ही थे। वह किसानों के मनोभावों को अच्छी तरह समझते थे, इसीलिए वह कविता में सरल शब्दों का उपयोग करते हुए जनता को अपनी बात अच्छी तरह समझा देते थे।

बालमुकुंद गुप्त के समय में भारत का स्वाधीनता आंदोलन अभी संगठित हो रहा था। इसलिए उनके साहित्य में उन संघर्षों का चित्रण नहीं

मिलता जिन्हें आगे चलकर प्रेमचंद ने अपनी विषय-वस्तु बनाया। गुप्तजी अपने जमाने के ऊँचे देशभक्त और निर्भीक पत्रकार थे। धूर्तता, अन्याय और अत्याचार से उन्हें हार्दिकघृणा थी। आज की पीढ़ी उनसे सीख सकती है कि साहित्य में जनता की तरफदारी कैसे करनी चाहिए। उनके अमर व्यंग्य लेख सामयिकता में डूबे हुए हैं। वे वंग-भंग के विरुद्ध स्वदेशी और स्वराज्य के लिये भारतीय जनता के अभिन्न अंग हैं। उनमें जो ताजगी है, व्यंग्य में जो मर्म पर चोट करने की शक्तिहै, भाषा में जो ओज और प्रवाह है, उसका मुख्य कारण उनका प्रगाढ़ देश-प्रेम है। उन्होंने हिन्दी-उर्दू के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था। आजाद, सरशार, भारतेंदु और प्रतापनरायण मिश्र से उन्होंने गद्य लिखना सीखा था। अपनी रचना-शक्तिसे उन्होंने जनता का देशाभिमान जगाया अपनी प्रतिभा से उन्होंने हिन्दी-उर्दू साहित्य को भारत की भाषाओं में ऊँचा स्थान दिलाया। आज हिंदी की मोटी-पतली मासिक-त्रैमासिक पत्रिकाओं में लचर या लक्कड़तोड़ हिन्दी देखकर गुप्त जी की याद आती है, उस विरासत की याद आती है जिसे वह वीर लेखक ४२ साल की उम्र में ही आज की पीढ़ी के लिए छोड़ गया था। हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने बड़ी उन्नति करली है, बड़े-बड़े सिद्धान्त गढ़ लिये हैं, लेकिन वह गुप्त जी की एक मोटी बात भूल गये हैं। साहित्य कार प्रजा का वकील होता है, हमेशा उसकी तरफदारी करता है। गुप्त जी की यह परंपरा अमर है और उसका अनुसरण करने वाले लेखकों कमी न रहेगी।

गुप्त जी के पुत्र नवलकिशोर गुप्त ने उनकी निबंधावली और स्मारक ग्रंथ छपवाकर हिन्दी भाषा और साहित्य का बहुत बड़ा हित किया है। इनका संपादन करने में झाबरमल्ल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी ने सराहनीय परिश्रम किया है। आशा है' निबंधावली का दूसरा भाग भी वेजल्दी ही निकालेंगे।

'अवन्तिका', वर्ष १, अङ्क २। दिसम्बर १९५२ ई०।

———